समयसार प्रवचन

भाग 12

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिक सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

समयसार प्रवचन

बारहवां भाग

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक —

खेमचन्द जैन, सर्राफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उ० प्र०)

प्रथम संस्करण] १००० १६६८ [मूल्य १)५०

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान , जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान , वे विराग यहँ राग वितान ।।

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान , अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान , बना भिखारी निपट अजान ।।

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन , मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान , फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम , विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम , आकुलताका फिर क्या काम ।।

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम , मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम , 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ।।

❀ अहिंसा परमो धर्म ❀

समयसार प्रवचन बारहवां भाग

(मोक्षाधिकार)

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु०
मनोहर जी वर्णी (सहजानन्द) महाराज

आत्मरंगभूमिमें भेषपरिवर्तन—शुद्ध ज्ञानज्योतिका उदय होनेसे बंधके भेषसे ये कर्म दूर हो गए हैं, अथवा बंधके भेषसे यह आत्मा दूर हो गया है, अब इसके बाद मोक्ष तत्त्वका प्रवेश होता है। आत्मा अनादि अनन्त अहेतुक ध्रुव पदार्थ है। आश्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा, मोक्ष ये ५ जीवके स्वांग हैं। इनमें से कुछ स्वांग तो हेय हैं, कुछ उपादेय हैं, और मोक्षका तत्त्व सर्वथा उपादेय है। यह जीव गत अधिकारमें बंध तत्त्वके स्वांगसे अलग हो चुका है। अब मोक्ष तत्त्वके भेषमें इसका प्रवेश होता है। जैसे नृत्यके अखाड़ेमें स्वांग प्रवेश करता है, इसी प्रकार यह ज्ञान पात्र अब मोक्ष तत्त्वमें प्रवेश करता है।

ज्ञानका ज्ञानत्व—यह ज्ञान समस्त स्वांगोंको जानने वाला है। मोक्ष तत्त्वके सम्बंधमें भी इस जीवका किस प्रकारसे सम्यग्ज्ञान चल रहा है इसको मुक्ति पानेके उपदेशसे देखें। यह सज्ज्ञानज्योति प्रज्ञारूपी करौंतके चलनेसे बंध और पुरुषको पृथक् कर देती है, जैसे एक बड़े काठको बढ़ई करोंत चलाकर उसके दो अंश कर देता है, वे दो भिन्न-भिन्न अंशमें हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रज्ञारूपी करौंत चलाकर कर्म और आत्माका जो एक पिंड था उस पिंडको अलग-अलग कर दिया।

सीमाकी पृथक्त्वकारणता—भैया ! वस्तुओंको अलग-अलग करनेका कारण सीमा होती है, जैसे कोई एक बड़ा खेत है, दो भाइयोंमें सम्मिलित है, दोनों भाई अलग-अलग होते हैं तो उस खेतके दो टुकड़े किये जाते हैं। उस टुकड़ेका विभाग सीमा करते हैं, बीचमें एक मेड़ डाल देते हैं या कोई निशान बना देते हैं। उस सीमासे उसके दो भाग हो जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा और अनात्मा ये दो मिले हुए पिण्ड हैं। इनको अलग करना है तो उनकी सीमा परखिये। इस आत्माकी सीमा है समता अर्थात् ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहना। सो जितना यह समताका परिणाम है, ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी वृत्ति है उतना तो है यह आत्मा और जितना समतासे दूर परभावों रूप परिणाम है अथवा असमता है, अज्ञान है वह है अनात्मतत्त्व।

प्रज्ञा छैनीसे द्वैधीकरण—अब प्रज्ञारूपी छैनीसे अथवा करोंतसे इन दोनोंको स्पष्ट अलग कर देना है। एक ज्ञानानन्दस्वरूप वृत्ति वाला यह मैं आत्मा हूं और प्रकट अचेतन ये देहादिक अनात्मा हैं, और परका आश्रय पाकर, कर्मोदयका निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाले जो रागादिक विकार हैं ये सब अनात्मा हैं। अनात्मावोंको त्यागकर अपने आपके ज्ञायक स्वरूपमें प्रवेश करना सो मोक्षका मार्ग है, यों यह ज्ञान बंध और आत्माको पृथक् कराकर मोक्षको प्राप्त कराता हुआ जयवंत प्रवर्त रहा है। वह पुरुष अपने स्वरूपके साक्षात् अनुभव कर लेनेके कारण निःशंक, निश्चिन्त, निश्चित निर्णयवान है। जब अपने आपके ज्ञायक स्वरूपका ज्ञान होता है तब यह निश्चय हो जाता है कि मैं तो स्वभाव से ही आनन्द स्वरूप हूं, मुझमें क्लेश कहां है, क्लेश तो कल्पना करके, विचार करके बनाया जाता है। सो यह जीव उद्यम करके, कल्पना करके, श्रम करके अपनेको दुःखी करता है। स्वभावतः तो यह आनन्दस्वरूप ही है।

आत्मग्रहणके लिए अनात्मत्याग—भैया ! यदि कोई पुरुष अपने आपके यथार्थ चितनमें दृढ़ हो जाय तो उसको कहीं क्लेश नहीं है, किन्तु ऐसा होनेके लिए बड़ी त्यागकी आवश्यकता है। इन अनन्त जीवोंमें से घरके तीन चार जीवोंको यह मान लेना कि ये मेरे हैं यह मिथ्या कल्पना ही तो है। इस कल्पना का परित्याग करना होगा। जब तक अज्ञान अवस्था रहती है इस मिथ्या कल्पना के त्यागमें बड़ी कठिनाई महसूस होती है। कैसे त्यागा जाय ? जब ज्ञान ज्योतिका उदय होता है तब ये मेरे हैं ऐसा मानना कठिन हो जाता है। जैसे अज्ञानमें ममताको दूर करना कठिन है इसी प्रकार ज्ञानमें ममताका उत्पन्न करना कठिन है। जब यह ज्ञानी यह निर्णय कर लेता है कि मैं आत्मा स्वतः आनन्द-स्वरूप हूं, जो मेरेमें है वह है, जो नहीं है वह त्रिकाल आ नहीं सकता। ऐसा स्वतन्त्र असाधारण स्वरूपमय अपने आत्माका अनुभव कर लेता है उस समय यह इस प्रकार विजयी होता हुआ प्रवर्तता है, प्रसन्न, निराला होता हुआ विहार करता है। हमारे करने योग्य कार्य हमने कर डाला, अब हमारे करने को शेष कुछ नहीं रहा। इस प्रकार सहज परम आनन्दसे भरपूर होता हुआ वह ज्ञान मात्र होकर अब जयवंत होता हुआ विहार कर रहा है।

प्रतीतिके अनुसार निर्माण—यदि इस आत्माका झुकाव आत्मस्वभावकी ओर है, अपने एकत्त्वको परखनेकी ओर है तो इसको रंच क्लेश नहीं होता। और, बाहरमें चाहे किसीको मेरे प्रति बहुत आदर हो और सुहावना वाता-वरण हो, लेकिन यह आत्मा जब यह कल्पना कर बैठता है कि यह तो मेरे विरुद्ध है, इसका मेरी ओर आकर्षण नहीं है ऐसी बुद्धि जब उत्पन्न हो जाती है तो यह मन ही मनमें संक्लिष्ट होता रहता है, यह सब अपने भावोंका ही खेल है। हम

अपने ही परिणामसे संसारी बनते हैं और अपने ही परिणामसे मुक्त हो जाते हैं। मुझे दुःखी करने वाला इस लोकमें कोई दूसरा नहीं है। मैं ही विचारधारा वस्तुस्वरूपके प्रतिकूल बनाता हूँ, अपने आत्मतत्त्वके प्रतिकूल बनाता हूँ तो यह मैं ही दुखी हो जाता हूँ। जब मैं अपनी ज्ञानधाराको वस्तुस्वरूपके अनुकूल बनाता हूँ, आत्मस्वभावके अनुकूल बनाता हूँ तब इस मुझमें आनन्द भरपूर हो जाता है।

महापुरुषोंके जीवनकी तीन स्थितियां—इस समय यह ज्ञान मुख्य पात्र जोकि उदार है, गम्भीर है, अधीर है, जिसका अभ्युदय महान् है, ऐसा यह ज्ञान अब मोक्षके रूपमें प्रकट होता है। यह जीव और कर्मके अन्तयुद्धका अन्तिम परिणामरूप अधिकार है। जैसे नाटकमें मुख्य पात्रोंकी पहिले कुछ अच्छी अवस्था बतायी जाती है। फिर बहुत लम्बे प्रकरण तक दुःख, उपसर्ग विपत्ति, बाधा बतायी जाती है और फिर अंतमें विपत्तिसे छुटकारा कराकर कुछ आनन्द-रूप स्थिति बतायी जाती है। इसके बाद नाटक समाप्त किया जाता है। जितने भी नाटक लिखे जाते हैं या जितने भी पुराण पुरुषोंके चरित्र हैं उनमें यही ढंग पाया जाता है। बीचका काल विपत्तिमें बताकर अन्तमें विपत्तिसे छुटकारा बतायेंगे। कोई सा भी नाटक ले लो उसमें यह पद्धति मिलेगी।

पात्रोंकी तीन स्थितियोंके कुछ उदाहरण—जैसे सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र नाटकमें ये तीन बातें बतायी हैं। पहिले वे सुखसम्पन्न थे, मध्यमें उनपर कितनी विपत्तियां आयीं, उन विपत्तियोंमें अपना बिवेक रखा जिसके प्रतापसे अन्तमें फिर विजयी हुए। श्रीपाल नाटक भी देख लो। पहिले कैसा राज्य वैभव बताया, मध्यमें कुष्ठी होने आदिके कितने दुःख बताये और अन्तमें कुट मिला, राज्याधिकारी हुए और विरक्त होकर साधु हुए। मैना सुन्दरी का नाटक देखो—प्रथम कैसा सुख बताया मध्यमें कितने क्लेश बताये। जान बूझकर उसके पिता ने दरिद्र, कुष्टी, कुरूप बरको ढूँढ़ा था, भला कौन उसे दयावान कह सकेगा जो अपनी लड़कीके लिए दरिद्र, असहाय, खानेका जिसके ठिकाना नहीं, ऐसा बर ढूँढे। उसे तो लड़कीका बैरी कहेंगे। कितना कष्टमय जीवन बिताया और अंत में फिर उसने कैसा चमत्कार दिखाया। तो नाटकमें कथानकमें इस तरह प्रायः तीन दशावों की बातें चलती हैं।

आत्मविवरणमें तीन स्थितियां—इसी प्रकार यह आत्माका जो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धवश हो रहा नाटक है, उस नाटकके वर्णनमें प्रथम तो आत्मा का स्वरूप दिखाया। यह आत्मा एकत्व विभक्त है, शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है। इसमें न विकाकार दोष है, न गुणभेदका दोष है। यह तो जो है सो ही है, इसका यथार्थ स्वरूप बताकर फिर इसकी विपत्तियां दिखायेंगे। यह भूल गया अपनेको,

सो आश्रव और बंधको लपेटोंमें यह नाना कल्पनाएँ करके दुःखी होता है। आश्रव और बंधके प्रकरणमें यद्यपि आध्यात्मिक ग्रन्थ होनेसे भेदविज्ञानकी शैलीसे सब दिखाया, किन्तु वहां विपत्तियां और उपसर्ग जो इसपर पड़ते हैं वे सब दिखाये गये हैं। वहां उसने विवेक किया, भेदविज्ञान किया, साहस बढ़ाया। जिसके प्रतापसे भेदको हटाकर निज अभेदमें आया, अपना प्रसाद पाया। निर्मलता बढ़ी और अब यह मोक्ष तत्त्वमें प्रवेश करने वाला हुआ।

यह इस अधिकारका मंगलमय वचन है कि यह ज्ञान ज्योति बंधको और आत्माको पृथक करके आत्माको बंधसे मुक्त कराता हुआ अपना सम्पूर्ण तेज प्रकट करके सर्वोत्कृष्ट कृतकृत्य होता हुआ जयवंत प्रवर्तने वाला है। इस मोक्ष अधिकार में सर्व प्रथम दृष्टान्तपूर्वक यह बतायेंगे कि जिससे बन्ध होता है, यह जीव उसका छेद करनेसे मुक्त हो जाता है।

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥२८८॥

जह णवि कुणइच्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं।
कालेण य बहुएणवि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥२८९॥

बन्धनके ज्ञान मात्रसे छुटकाराका अभाव—जैसे कोई पुरुष चिरकालसे बंधनमें बंधा हुआ है, वह पुरुष उस बन्धनके तीव्र मंद स्वभावको भी जानता है और उसके सम्बन्धको भी जानता है। फिर भी उसके जाननेसे बन्ध नहीं कटते हैं और यह बंधनमें बंधा हुआ ही रहता है। उससे छूटता नहीं है। जैसे किसी पुरुषको एक वर्षका कारावासका दंड दिया गया, और लोहेकी बेड़ी पहिनाकर जेलमें रख दिया। वह पुरुष जान रहा है कि यह लोहेकी बेड़ी है, इसको बांधे हुए है, यह कठोर है, कड़ा बंधन है। एक वर्षके लिए यह बंधन है। इतना सब कुछ जानकर भी क्या वह उस बंधनसे मुक्त हो जाता है?

ज्ञानके अमलसे मुक्ति—यहां यह दिखाया जा रहा है कि ज्ञान मात्रसे मोक्ष नहीं होता, किन्तु ज्ञान करके इस ज्ञानपर अमल करनेसे उसके अनुसार भावना बनानेसे तद्रूप परिणमन करनेसे मोक्ष होता है। कारागारमें रहते हुए भी किसी कैदीका बरताव भला हो जाय और उसकी प्रकृति सुधर जाय तो उस कारागारकी स्थितिमें भी उसे सहूलियत मिलती है और उसकी अवधि कम कर दी जाती है। जो जानता है कारागारसे छूटनेका उपाय, उसपर अमल करने से छूट पाता है।

दृष्टान्तपूर्वक दार्ष्टान्तका वर्णन—जैसे वह कारागारावासी बंधनबद्ध पुरुष चिरकालसे बंधनमें बंधा हुआ है उस बंधनके तीव्र मंद स्वभावको जानता है, और उससे छूटनेकी कलाको भी जानता है, पर यदि वह बंधनके

के छेदको नहीं करता, नहीं काटता तो वह छूटता नहीं है। बंधनके वश होता हुआ बहुत काल तक भी वह मुक्तिको प्राप्त नहीं होता। जैसे इस दृष्टांतमें यह बताया है कि केवल बंधके स्वरूपके ज्ञानसे इस कैदीको मुक्ति नहीं होती है इसी तरह इस आत्माको भी मात्र बंधके स्वरूपके ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती है। इस बातको इस गाथामें कह रहे हैं।

इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभागं ।
जाणंतो वि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥२६०॥

बंधस्वरूपके ज्ञान मात्रसे मुक्तिका अभाव—कोई जो पुरुष कर्मोंके बंधनकी प्रकृतिको, स्थितिको, प्रदेशको, अनुभावको यद्यपि जान भी रहा है तो भी यदि वह शुद्ध होता है, रागादिकको दूर कर निर्मल ज्ञानस्वभावका अनुभवन करता है तो वह मुक्त होता है। केवल बंधोंके स्वरूपके ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती है। किसीका परसे बंधन होता है, तो वहां प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ये चार उसके रूपक बनते ही हैं।

बन्धनमें चतुर्विधताका एक दृष्टांत—जैसे हाथोंको रस्सीसे जकड़ दिया तो वहाँ रस्सीके प्रदेश हाथोंके प्रदेश ऐसे प्रदेशोंका वहां मुकाबला है। वह बंधन हमारे कितने देर तक बना रहेगा, बहुत हाथ हिलाया जाता पर वह बंधन इतने देर तक रहेगा, यह भी वहाँ बात हो रही है। वह बंधन दृढ़ है या हल्का है या बड़ा कठोर बन्धन बन गया है, यह बात भी वहां है और उस बंधनकी प्रकृति क्या है कि यह बेचैन हो रहा है। अपनी स्वतन्त्रताका उपभोग नहीं कर सकता, यह सब उसकी प्रकृतिका फल है, तो वहां बंधका स्वरूप पूरा यों होता इतना जानकर भी क्या वह बंधनसे छूट जाता है। बंधनसे छूटनेका उपाय करे तो छूटता है। उस बंधनको काटे तो उससे छुटकारा मिलता है।

कर्मबंधनकी चतुर्विधता—इसी तरह कोई ज्ञानी जीव शास्त्रज्ञानी पुरुष बंधके स्वरूपको खूब जानता है। इन कर्मों में ८ प्रकारकी प्रकृतियां पड़ी हुई हैं, किसी कर्ममें ज्ञानको घातनेकी प्रकृति पड़ी हुई है, किसी कर्ममें दर्शनको घातनेकी प्रकृति चल रही है, किसी कर्ममें साता और असाताके वेदन करने के निमित्त होनेकी प्रकृति पड़ी है। किसी कर्ममें इस जीवको शरीरमें रोके रहने की प्रकृति पड़ी हुई है, किसी कर्ममें जीवके भाव और बंधके अनुसार शरीर की रचना करा देनेकी प्रकृति पड़ी हुई है। किसी कर्ममें इस लोकमें जीवको ऊँचा या नीचा जता देनेके परिणमा देनेकी प्रकृति पड़ी हुई है, किसी कर्ममें जीवकी भावनाके अनुकूल, इच्छाके अनुकूल काम न होने आदिकी प्रकृति पड़ी हुई है इसी प्रकार स्थिति प्रदेश अनुभाग भी उनमें है।

बंधस्वरूपज्ञके भी आत्मस्पर्श बिना मुक्तिका अभाव—खूब जान रहा है

यह शास्त्रज्ञानी पुरुष कि कर्मोंमें विचित्र प्रकृतियाँ हैं, स्थितियां भी जानता है, अमुक कर्म हमारे सागरों पर्यन्त रहता है, आत्माके विकासकी प्रगतिकी अवस्था में कर्म जघन्य स्थिति वाले होते हैं। सर्व प्रकारकी स्थितियोंका भी परिज्ञान है इस शास्त्रज्ञानीको उनमें प्रदेश पुञ्ज कितने हैं, कैसे हैं यह भी उसे ज्ञात है, उनका फल क्या है, उनमें कैसी शक्ति पड़ी हुई है। इस अनुभावका भी ज्ञान है इन विद्वान् पुरुषोंको, पर बंधके ऐसे स्वरूपका ज्ञान करनेके बावजूद भी इस जीवको बंधनसे मुक्ति नहीं मिलती है। यह बंधका कारणभूत राग द्वेष मोह भाव न करे तो इसे बंधनसे मुक्ति मिलती है ऐसे दृष्टान्तपूर्वक यहां मोक्ष का उपाय दिखाया जा रहा है।

मुक्तिका साधकतम आत्मस्पर्श—मोक्ष कैसे मिलता है इसका वर्णन चल रहा है। कोई लोग कहते हैं कि बंधका स्वरूप जान लो, उसका ज्ञान होनेसे मोक्ष मिल जायगा। आचार्य देव कहते हैं कि बंधका स्वरूप जानने मात्रसे मोक्ष नहीं मिल सकता है। किन्तु बंधके दो टुकड़े कर देनेपर अर्थात् आत्मा और कर्म ये दो किए जानेपर मोक्ष मिलता है, तो आत्मा और बंधके दो टुकड़े कैसे हों उसका उपाय है ज्ञान और ज्ञानकी स्थिरता। कितने ही लोग शास्त्र ज्ञान बढ़ा लेते हैं, बढ़ाना चाहिए, पर उन्हें मात्र शास्त्रके ज्ञानमें ही संतोष हो जाता है। कर्मोंकी बहुत सी बातें जान लें, कर्म ८ तरहके हैं उनके १४८ भेद हैं, उनमें इस तरह वर्ग हैं, वर्गणा हैं, निषेक हैं, स्पर्धक हैं, उनकी निर्जराका भी ज्ञान कर लिया, कि इन गुणस्थानोंमें इस तरह निर्जरा होती है। ऐसा वर्णन करने के कारण उन्हें मोक्षका मार्ग मिल जाय सो नहीं होता है। ज्ञान करना ठीक है, पर उसके साथ भेदविज्ञानके बलसे आत्माका स्पर्श हो सके तो उन्हें मोक्षका मार्ग व मोक्ष मिलता है।

एकत्वके अनुभवमें और आकिञ्चन्य के प्रत्यक्षमें हित एवं संतोष—अनुभाग प्रकृति, प्रदेश, स्थिति इनको जान भी लिया तो भी जब तक मिथ्यात्वरागादिक से रहित नहीं होता, अनन्तज्ञानादिक गुणमय परमात्माके स्वरूपमें नहीं स्थित होता तब तक कर्मबंधोंको नहीं त्याग सकता। मुख्य बात सर्वत्र एक यह ही है कि समस्त पर पदार्थोंसे और परभावोंसे विभक्त निज ज्ञायक स्वरूप भगवान आत्माकी पहिचान करें। यह जगतका झमेला न हितकारी है न इसका साथी है, सर्व समागम पर द्रव्य हैं। इन समागमोंका क्या विश्वास करें। इनमें हित दृष्टिसे अनुराग मत करो। आत्माका हित तो जितना अपने आपको अकेला, न्यारा केवल ज्ञानप्रकाश मात्र अकिंचन अनुभव किया जाय, होगा तभी संतोष मिलेगा और जितना अपने आपके अकेलेपनसे हटकर बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि लगायी जायगी उतने ही इसको क्लेश होंगे।

पुरुषार्थमें संयमका स्थान—जैसे कोई बेड़ीसे बंधा हुआ पुरुष हो तो सिर्फ उस के ज्ञान करनेसे तो बेड़ी छूट नहीं सकती, बेड़ीको तोड़ेगा तो छूट सकेगा। इसी तरह कर्मबंधनसे बद्ध आत्मा बंधनके स्वरूपको जान लेने मात्रसे न छूटेगा, किन्तु बंधसे विविक्त ज्ञानस्वभाव भगवान आत्माका ज्ञान द्वारा ग्रहण करेगा और इस भगवान आत्माके उपयोगमें स्थिर रहेगा तो मोक्षमार्ग मिलेगा। जितने बाह्य व्रत तप संयम आदिक किए जाते हैं वे ऐसी योग्यता बनाए रहनेके लिये किये जाते, जिनमें रहकर यह जीव ज्ञायक स्वरूप भगवानका अनुभव करने का पात्र रह सकता। व्रत, संयम, नियमका मुख्य प्रयोजन विषय कषाय खोटे ध्यानसे बचनेका है, यदि दुर्ध्यानसे बचा रहेगा तो ऐसी योग्यता रहेगी कि इस अपने चैतन्यस्वभावी प्रभुके दर्शन कर सकेगा।

ज्ञानके अनुष्ठानकी कार्यकारिता—इस व्याख्यानसे उनको समझाया गया है जो कर्मोंकी प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग और इनका विशेष प्रभेद रूप अनेक वर्णनोंके जान लेनेसे संतोष कर लेते हैं। इतना जान लिया कि भगवानके वचन सत्य हैं, इतने मात्रसे मोक्षका मार्ग नहीं मिलता, किन्तु अपने स्वभावमें झुकें, रागादिक दूर करें तो मोक्षका मार्ग मिलता है। जैसे मिठाईका नाम लेते रहो, रोटीका नाम लेते रहो तो नाम लेनेसे पेट नहीं भरता अथवा दूर बैठे-बैठे बनती हुई रोटीको देखते रहें, अच्छी बनी खूब फूली, अच्छी सिकी, तो केवल देखनेसे पेट नहीं भरता। पेट तो खानेसे ही भरता है, बल्कि खाना बनता हुआ देखनेसे भूख बढ़ती है, तो जैसे भोजनका नाम लेनेसे पेट नहीं भरता इसी तरह शास्त्रोंका मात्र ज्ञान कर लेनेसे मोक्षमार्ग नहीं मिलता। किन्तु, शास्त्रोंमें जो बताया गया है उसको अपने उपयोगमें उतारें, अपनी दृष्टिमें उस तत्त्वको ग्रहण करें इससे रागादिक दूर होंगे। इस शुद्धवृत्तिके कारण मोक्ष का मार्ग चलता है।

परसे परकी अशरणता—भैया! यह जगत असहाय है, ये समस्त प्राणी अशरण हैं। किसी एकके लिए कोई दूसरा शरण नहीं है। सब अपने अपने कर्मोंके उदयसे सुख दुःख भोगते हैं, जब पापका उदय आता है तो कोई पूछने वाला नहीं रहता है। बड़े-बड़े पुरुष भी असहाय होकर मरण करते हैं। जरत कुमारके निमित्तसे श्रीकृष्णजी की मृत्यु हुई–इसको सभी लोग कहते हैं, कितना बड़ा प्रतापी पुरुष जो अपने समयमें एक प्रभु माना जाता हो और जिसके भाई बड़े बल्देव जिसके अनुरागमें सब कुछ कष्ट सह सकते हों, उस समय बल्देव भी साथ न रहे और जरतकुमार जो कि श्रीकृष्णकी मृत्युके भयसे नगरी छोड़कर चले गये थे, पर ऐसा जोग जुड़ा कि पीताम्बर ताने श्रीकृष्णजी सो रहे थे और उनके चरणोंके नीचे पदमका चिह्न चमक रहा था। सो जरतकुमारने जाना कि

यह हिरण है बस हिरणके धोखेसे ही उसने उन्हें मार दिया। तब बलभद्र श्री बल्देव आकर बड़े दुखी हुये।

गर्वका सर्वत्र व सर्वदा अनवसर—नौ नारायण और नौ बलभद्र होते हैं। नारायण और बलभद्र भाई भाई होते हैं। सब जगह प्रायः बलभद्र नारायणकी सेवा करते हैं बड़े भाई होकर भी केवल राम लक्ष्मणका ही एक ऐसा उदाहरण है कि जहाँ लक्ष्मण जी ने रामकी सेवा की। आप समझ लो कि नारायणका कितना तीव्र पुण्य होता है। ऐसा पुण्यवान पुरुष भी जब उदय प्रतिकूल होता है तो असहाय हो जाता है। तब फिर अन्यका कहना क्या है। अपने आपमें गर्व करनेसे क्या फायदा है। थोड़ी सी अच्छी स्थिति पाकर घमण्डमें चूर होना—कि मैं अच्छे रूप वाला हूँ, मैं धन वाला हूँ, मैं ज्ञान वाला हूँ, मेरी इज्जत प्रतिष्ठा अच्छी है। ये सारेके सारे ख्याल स्वप्नके झूठे दृश्य हैं। जो इनमें उलझ जाते हैं वे आनन्दघन ज्ञानमय प्रभुका दर्शन नहीं कर पाते।

प्रभुदर्शनके अधिकारी प्रभुस्वरूपके तीव्र अनुरागी—भैया! इस प्रभुका दर्शन उन्हें ही मिलता है जो अपने आपको अकेला और अकिंचन मानते हैं। अभी यहीं पर कोई मित्र किसी दूसरेसे दोस्ती करे तो पहिले दोस्तसे उपेक्षा हो जाती है। यह तो दूसरेको ज्यादा चाहता है। तो यों ही समझो कि कल्याणमय यह प्रभु उस व्यक्तिसे उपेक्षा करेगा जो प्रभुको छोड़कर किसी दूसरेसे राग करेगा। मानों सोचेगा कि यह तो चेतन अचेतन परिग्रहसे राग करता है। प्रभुका फिर वहाँ दर्शन न होगा। जो एक मन होकर प्रभुके दर्शनके लिए ही उतारू है-कुछ और नहीं चाहिए, ऐसी वृत्ति बने जिससे, ऐसे पागल पुरुषको भगवानके दर्शन होते हैं। जो प्रभुके दर्शनके लिए पागल हो जाय, दूसरा न सुहाये। पागल नहीं है वह। दुनियांकी निगाहमें वह पागल है। यों ही लोग सोचते हैं-क्या दिमाग हो गया इसका, न घरकी खबर रखे, न दूकान ढंगसे करे, न लोगोंसे ठीक बोले, क्या हो गया इसको, लोग उसे पागल देखते हैं, पर ज्ञानी पुरुष इस समस्त जीवलोकको पागल देखता है।

ज्ञानीकी दृष्टिमें—भैया! देखो तो इसे दूसरोंसे लेना देना कुछ है नहीं, मिलता कुछ है नहीं, किसीका कोई होता है नहीं, पर कैसा दौड़-दौड़कर खूंटा गिरमा तोड़ तोड़कर बाहरी पदार्थोंमें लग रहे हैं। अपना खूटा है अपना आत्मा और अपना गिरमा है अपनी दृष्टि। सो अपनी दृष्टि तोड़ कर दौड़ता है यह बाहरी पदार्थोंकी ओर। जबतक अपनी वृत्तियोंकी गतिमें अन्तर न आयगा तब तक कर्मबंधविषयक ज्ञानसे भी मोक्षमार्ग न मिलेगा। ज्ञान करना तो आवश्यक है, पर मोक्षमार्ग मिलता है तो आत्मतत्त्वकी उन्मुखतासे मिलता है।

परीक्षणसाध्य निर्णय—जैसे अभी यहीं आप लोग कोई मान लें कि मैं

बिल्कुल अकेला हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है, सब जुदे हैं, यह मैं तो अमूर्त ज्ञायक स्वरूप हूँ, ज्ञान मात्र हूँ, इसमें तो और कुछ लिपटा ही नहीं है। धन मकानकी तो बात जाने दो, इसमें तो स्वरसतः रागादिक भाव भी नहीं लिपटे हैं। यह तो शुद्ध ज्ञान मात्र है, अपने आपकी दृष्टि दें, यह मैं केवल ज्ञान प्रकाश हूँ, देखो यहीं छुटकारा होता है कि नहीं होता है, कुछ क्षणोंकी कुछ हद तक संकटोंसे छुटकारा अवश्य होगा। तो जहां संकल्प विकल्प रंच न रहें, केवल ज्ञाता द्रष्टा रूप परिणमन है उनके उपयोगका तो मोक्ष है ही है।

मुक्तिका कदम राग द्वेषका परिहार—भैया ! जो जीव कर्मबंधके स्वरूपके विषय में बड़ी-बड़ी रचनाओंकी जानकारी करता है बड़ा ज्ञान करता है जिसने त्रिलोकसार पढ़ा, नरककी रचनाएँ जानीं, तीनों लोक ऐसे हैं, ऐसे द्वीप और समुद्र हैं, ऐसी-ऐसी अवगाहनाके जीव हैं, ऐसा जानकर ज्ञानी मानकर, धर्मात्मा समझकर स्वच्छन्द रहे, राग द्वेष न छोड़े विषय कषायोंसे वियोगबुद्धि न करे तो कहते हैं कि ऐसी संतुष्टिसे काम न चलेगा।

मोक्षहेतुविषयक दूसरी जिज्ञासा—अब कोई दूसरा जिज्ञासु चर्चा करता है कि बंधके स्वरूप जानने मात्रसे तो मोक्ष न होगा, यह तो हमारी समझमें आ गया पर बंध छूटे, दूर हो यह बन्ध ऐसे बन्धकी चिंता करें, अपायविचय धर्म ध्यान बनाएँ कि ये रागादिक मिटें, यह क्षोभ खतम हो तो ऐसा ध्यान बनाने से तो मोक्ष मार्ग मिलेगा ना ? तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि—

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावइ विमोक्खं ॥२९१॥

बंधकी चिंतना मात्रसे भी मोक्षका अभाव—देखो, भैया जैसे बेड़ीसे बंधा हुआ कोई पुरुष बन्धसे छूटनेकी चिन्ता करे तो क्या चिंता करने मात्रसे वह छूट जायगा। बेड़ी पड़ी हैं पैरमें, हाथमें और ध्यान बना रहे हैं कि कब छूटे बेड़ी, यह बेड़ी छूटे, यह बेड़ी बड़ी दुःखदाई है ऐसा सोचने से बेड़ी टूट जायगी क्या ? ऐसे नहीं टूट सकती है। बेड़ी तो काटनेसे ही कटेगी, चिन्ता करनेसे बेड़ी न कटेगी। तो जैसे बेड़ीके बंधनमें बंधा हुआ पुरुष बंधकी चिंता करके वह मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार कर्मबंधकी चिंता करके भी जीव कर्मों से कैसे छूटेगा। ऐसा विचार करके भी जीव मोक्षको प्राप्त नहीं करता है। तो कैसे मोक्ष मिलेगा बंधनसे बंधे हुए पुरुषको ? उस बंधनको छेदनेसे, भेदनेसे, तोड़नेसे मोक्ष मिलेगा।

बंधनके छेदन, भेदन, मोचनसे छुटकाराके उदाहरण—किसीको रस्सीसे बांध दिया हाथ पैर, तो उस रस्सीके बंधनेको छेद करके ही वह बंधनसे छूट सकेगा। केवल जाप करनेसे बंधन न छूट जायगा कि मेरी रस्सी टूट जाय, छेद

देगा, तोड़ देगा तो छूट जायगी या कोई सांकरसे बाँध दे तो उस साँकरको यदि कोई भेद देगा तो वह छूट जायगी। अथवा एक बेड़ी ऐसी होती है काठकी कि उसको फंसा दिया जाता है। अब हथकड़ी भी ऐसी आने लगी हैं कि एक बार बांध देनेपर फिर हथकड़ीको तोड़कर छुटकारा नहीं कराना पड़ता किन्तु उसमें पेंच हैं सो उन्हें अलग कर दिया। इसी तरहकी पहिले काठके बन्धनकी परम्परा थी। पैरमें काठ डाल दिया और उसमें दूसरे काठसे बंद कर दिया, तो उस बेड़ीको छुटानेसे बंधनमुक्त होगा। कोई बंधन छेदा जाता है और कोई बन्धन दो टूक किया जाता है, कोई बन्धन अलग किया जाता है।

बंधनत्रयसे छुटकाराका उपाय—इसी तरह इस आत्मामें तीन तरहके बन्धन हैं-द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म। सो शरीरको तो छुड़ाना है और द्रव्यकर्मको छेदना है, अर्थात् स्थिति अनुभाग घटा-घटाकर उसे नष्ट करना है और भावकर्मको भेदना है। यह मैं आत्मा चैतन्यस्वभावी हूँ और ये कर्म जड़हैं ऐसे आत्म-स्वभावके व कर्मके दो टुकड़े करना है। ऐसे विज्ञानरूप पुरुषार्थके बलसे यह जीव मोक्षको प्राप्त करता है। सारांश यह है कि संकटोंसे छूटना हो तो रागद्वेष मोह दूर करो। राग करते हो तो संकट आयेंगे। राग छोड़ना न चाहें और दूसरोंसे संकट मिटानेकी आशा रखें यह न हो सकेगा। संकट मिटाना हो तो खुदको रागमें फर्क डालना पड़ेगा तो संकट मिटेंगे, अन्य प्रकारसे नहीं।

बंधनच्छेदकी मोक्षहेतुता—मोक्षके सम्बन्धमें यह बताया गया है कि बंधके स्वरूपका मात्र ज्ञान होनेसे मोक्ष नहीं होता, किन्तु अन्तरङ्ग ज्ञाता द्रष्टा रहनेकी वृत्तिके पुरुषार्थसे अर्थात् रागद्वेष न करनेके उद्यमसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। जैसे कोई रस्सीसे बंधा है, कोई साँकलसे बंधा है कोई काठसे बंधा है तो वह बंधनको अच्छी तरह जान जाय कि इस तरहकी रस्सी है, इस तरह तेज बंधी है, उन बंधोंके स्वरूपको खूब जान जाय तो क्या स्वरूप जानने मात्रसे उसका मोक्ष है। जब तक वह बंधनको छेदे नहीं, भेदे नहीं, छोड़े नहीं तब तक बन्धनसे छुटकारा नहीं होता है।

त्रिविध बंधच्छेदके दृष्टान्त—पूज्यश्री जयसेनाचार्यजी ने दृष्टान्तमें यहां तीन बातें रखी हैं। रस्सीके बन्धनको तो छेदा जाता है, लोहेका बन्धन भेदा जाता है और काठके बन्धनको छोड़ा जाता है। छेदनेके मायने उसको तोड़ करके टूक कर दें, भेदके मायने है छेनी और हथोड़ेकी चोटसे भेदकर इसको अलग कर दिया जाय। और काठकी जो बेड़ियां होती हैं उनमें दोनों ओर छेद होते हैं, उन छेदोंमें कोई लकड़ी घसा दी जाती है तो वह बँध गया, तो काठके बन्धनको छोड़ा जाता है मायने वह लकड़ी छोड़ दी जाती, निकाल दी जाती तो वह काठका बंधन छूट जाता है।

त्रिविध बन्धच्छेद—दृष्टांतके अनुसार यहाँ भी तो तीन प्रकारके बंधन हैं जीवोंके। द्रव्यकर्मका बंधन है, भावकर्मका बंधन है और शरीरका बन्धन है। तो इनमें से छेदा कौन जायगा, भेदा कौन जायगा और छोड़ा कौन जायगा? तो द्रव्यकर्मको तो छेदनेकी उपमा है, क्योंकि जैसे रस्सी छन-छनकर तोड़नेसे धीरे-धीरे सिथिल होकर कई जगहसे टूटती है इसी तरह बँध हुए द्रव्यकर्मों में, करण परिणामोंके द्वारा गुणश्रेणी निर्जराके रूपसे बहुत लम्बी स्थितिमें पड़े हुए कर्मोंमें से कुछ वर्गणायें निकलकर नीचेकी स्थितिमें आती हैं। कुछ अनुभाग ऊपरसे निकलकर नीचे आते। इस तरह धीरे-धीरे छिद-छिदकर द्रव्य कर्मका बन्धन समाप्त होता है। इसलिये द्रव्यकर्मके बन्धनमें तो छेदनेकी उपमा होनी चाहिए, भावकर्मके बन्धनमें भेदनेकी उपमा होनी चाहिए। भावबंध भेदा जाता है और देहबन्धन छोड़ा जाता है।

भावकर्मका व नोकर्मका बंधच्छेद—जैसे लोहेकी साँकल छेनी और हथौड़ेके प्रहारसे दो टूक कर दिये जाते हैं, इसी प्रकार भावकर्म अर्थात् विकार भाव और आत्माका सहज स्वभाव इसकी सीमामें प्रज्ञाकी छेनी और प्रज्ञाके हथौड़ेका प्रहार करके स्वरूपपरिचय द्वारा उपयोगमें इन दोनोंका भेदन कर दिया जाता है, भिन्न कर दिया जाता है, ये जुदे हैं यों जानकर उपयोग द्वारा भिन्न किया फिर सर्वथा भी भिन्न हो जाता है। शरीरका छेदन नहीं होता, भेदन नहीं होता, किन्तु छोड़ना होता है। जैसे काठकी बेड़ीके अवयव निकाल देनेसे छुटकारा होता है। यहांसे बना बनाया शरीर छोड़कर आत्मा चला जाता है, अर्थात् द्रव्यकर्म होता है छिन्न, भावकर्म होता है भिन्न और शरीर होता है मुक्त। तो इस तरह यह बंधन छूट निकले, टूटे, भिदे तो जीव मुक्त होता है।

बंधके छेदन भेदन मोचनसे मुक्ति—भैया! मात्र बन्धका स्वरूप जानने मात्रसे मुक्ति नहीं होती है। जान लिया कि प्रकृतिबंध एक स्वभावको कहते हैं। कर्मोंमें स्वभाव पड़ गया है। प्रकृति कहो या कुदरत कहो। जैसे लोग कहते हैं कि प्राकृतिक दृश्य कितने अच्छे हैं। वे प्राकृतिक दृश्य हैं क्या? कर्मप्रकृतिके उदयसे जो एकेन्द्रिय वनस्पति, पत्थरकी रचना होती है, उसी रचनाको प्राकृतिक दृश्य कहते हैं। प्रकृतिसे बना हुआ यह सब निर्माण है। जैसे जंगलमें पहाड़ होते हैं, झरना झरता है, चित्र विचित्र पेड़ होते हैं, चित्र विचित्र फल फूल होते हैं, वे सुहावने लगते हैं, उनको लोग कहते हैं कि ये प्राकृतिक दृश्य हैं। बनाये गये नहीं हैं। ऐसी यह प्राकृतिकता स्वभाव और बनाया जाना इन दो के बीचकी चीज है, वह सारी वनस्पतियोंका, जल और पत्थरोंका जो दृश्य है वह बनाया गया भी नहीं है और पदार्थोंके स्वभावसे भी नहीं है किन्तु वह प्राकृतिक है। अर्थात् कर्म प्रकृतिक उदयसे उत्पन्न हुए हैं। सो ये प्रकृति कर्म छिन्न होते हैं और

ये रागादिक विकार भिन्न होते हैं और शरीर मुक्त होता है तो जीवको मोक्ष प्राप्त होता है अन्य गप्पोंसे नहीं।

बंधविज्ञानमात्रसे मुक्तिका अभाव—प्रकृतियोंके जान लेने मात्रसे क्या बंध छूट जाता है ? अथवा उसकी स्थितियां जान ली गईं कि अमुक कर्म इस स्थिति का है, उनके प्रदेश जान लिया, उनका अनुभाग समझ लिया तो इतनेसे मात्रसे मुक्ति नहीं होती है या शास्त्रके आधारसे तीन लोककी रचना जान लिया, इतिहास जान लिया अथवा औपाधिक बातें कहां कैसी होती हैं, यह भी समझ लिया तो आचार्य देव कहते हैं कि ये सब ज्ञान हैं तो मोक्षमार्गके सहकारी, पर इतनेसे मोक्ष नहीं होता है। ज्ञायकस्वरूप भगवानका उपयोग करें, रागादिक भावोंको दूर करें तो मोक्षका मार्ग प्राप्त होता है।

धर्मध्यानांधबुद्धिता—बन्ध कैसे छूटे, रागादिक कैसे मिटें ऐसे बन्धके चिंतनसे मोक्ष नहीं होता है। कर्मबद्ध जीव बन्धका चिंतन करे अथवा उपायविचयनामक धर्मध्यान करे, अथवा ये रागादिक कैसे दूर हों, यह भावजगत कैसे दूर हो, जन्म मरण कैसे मिटे, नाना धर्मध्यान रूप चिंतन भी चले तो भी इस धर्मध्यानमें ही जिनकी बुद्धि अन्ध हो गई है, धर्मध्यान अच्छी चीज है, मगर इससे आगे हमारी कुछ कृतार्थता है यह बोध जिनके नहीं है, विशुद्ध, मात्र, केवल, सिर्फ धर्मध्यान, उस ही में जो अटक गए हैं ऐसे जीवोंको समझाया गया है कि कर्म बंधके विषयमें चिंता करने रूप परिणामसे भी मोक्ष नहीं होता है। जैसे कोई बेड़ीसे बंधा हुआ पुरुष है और वह बेड़ीके विषयमें चिंता करे कि बेड़ी छूट जाय तो ऐसी चिंता करने मात्रसे बेड़ी नहीं छूट जाती। इसी तरह अपने आपके बंधनके सम्बन्धमें चिंता करें, कब छूटे, कैसे छूटे तो इतना मात्र चिंतन करनेसे बंधन नहीं छूट पाता है। वह तो बंधनके छेदने भेदने काटनेसे ही छूट सकता है।

भावबंधभेदनवशता—उन तीनोंमें भी न अपना छेदनेपर अधिकार है और न शरीरको निकालनेका अधिकार है कवल भावबंधको भेदनेका अधिकार है क्योंकि भावका और स्वभावका भेदना प्रज्ञा अर्थात् विवेकसे होता है और विवेक कर लेना हमारे अधिकारकी बात है, करें, जैसे हम चाहें कि इन ८ कर्म शत्रुओंको छेद दें, निकाल दें, तो उन शत्रुवोंका ध्यान रखनेसे या ऐसा अपना उद्देश्य बनाने से कहीं वे कर्म दूर नहीं हो जाते। वे कर्म तो स्वतः ही दूर होते हैं जब इसके उतने उत्कृष्ट परिणाम बन जाते हैं। शरीरके छुटकाराकी भी बात अपने अधिकारकी नहीं है, छूटना है तो स्वयं छूटता है, मात्र विभावोंको भेदनेपर अपना वश हैं। यद्यपि अनादिसे अब तक विभावोंसे छूट नहीं सके, इसका प्रमाण यह है कि हम आप भवधारण कर रहे हैं, नहीं भेद सकते मगर पुरुषार्थपूर्वक यह देख लें कि द्रव्यकर्मको भेदनेमें हमारा वश है या भावकर्मको भेदनेमें हमारा वश है।

भावबन्धभेदनवशताका कारण—भावकर्मको भेदनेमें हमारा वश यों है कि द्रव्यकर्म और शरीर तो परद्रव्य हैं, उनपर हमारा अधिकार नहीं है। और, भाव-हमारे परिणमन है, वे हमारे ज्ञानमें आते हैं, तथा स्वभाव मेरा स्वरूप है, वह भी ज्ञानमें आता है। तो स्वभाव और विभाव जो कुछ हमारे ज्ञानमें आते है, जिनके लक्षणको हम समझते हैं, उनका भेद करदें, जुदा-जुदा स्वरूप पहिचान लें, इसपर हमारा वश है। और, इस ही आधारपर हमारा मोक्षमार्ग हमें मिलता है।

मोक्षहेतुकी जिज्ञासा—जो लोग कहते हैं कि बंधकी चिंताका प्रवन्ध मोक्षका कारण हुआ सो बात असत्य है। यद्यपि मोक्षके कारणमें चलने वाले जीवोंके बंधके चिंतनका अवसर आता है फिर भी बंधके चिंतन मात्रसे मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष तो बंधके खोलनेसे मिलता है। इतनी बात सुननेके पश्चात् जिज्ञासु प्रश्न करता है-तो फिर मोक्षका कारण क्या है? न तो बंधके स्वरूपका ज्ञान मोक्षका कारण है और न बंधके विनाशका चिंतन मोक्षका कारण है, तब है क्या मोक्षका कारण? ऐसी जिज्ञासा सुननेपर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥२९२॥

बंधच्छेदके मोक्षहेतुत्वका अनुमान—जैसे बंधनमें बंधा हुआ पुरुष बंधनको छेद करके ही मोक्षको प्राप्त करता है इसी प्रकार कर्मबंधनके बद्धसे बद्ध यह जीव उन बंधोंको छेद करके ही मोक्षको प्राप्त कर सकता है। अब उसे दार्शनिक भाषामें अनुमानका रूप देकर सिद्ध करते हैं। कर्मबद्ध जीवके बंधनका विनाश मोक्षका कारण है क्योंकि हेतु होनेसे। जैसे साँकल आदिसे बंधे हुए पुरुषको बंधका छेद छुटकाराका हेतु है अर्थात् जैसे सांकलसे बंधे हुए पुरुषका बंधन उस बंधनके छेदसे ही मिटता है इसी प्रकार कर्मबंधनसे बद्ध इस जीवका बंधन बंधनके छेदसे ही मिट सकेगा। ऐसा कहनेपर भी आशयमें यह बात आती है कि मोक्षहेतु है अपने कर्मोंका छेदन, याने आत्माके कर्मोंका भेदन।

कर्मशब्दका अर्थ—आत्माका कर्म है विकार परिणाम जो आत्माके द्वारा किया जाय उसे आत्माका कर्म कहते हैं। तो कर्म नाम सीधा विकार भावका है, और पौदगलिक द्रव्यकर्मका कर्मनाम उपचारसे है। जबकि प्रसिद्धि लोकमें पौदग-लिक कर्मों के कर्म नामकी खूब है और आत्माके रागादिक विकारोंको कर्म कहनेकी पद्धति नहीं है। कर्मका अर्थ कर्म, तकदीर, भाग्य, द्रव्यकर्म। तो प्रसिद्धि तो कर्म शब्दकी पौद्गलिक द्रव्यकर्मकी है और आत्माके भावोंमें जो कर्म शब्द लगाया जाता उसको यों समझते हैं कि लगा दिया है। जबकि वास्तवमें शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे कर्म नाम है विकारका, रागादिक भावोंका, और जगतके रागादिक

विकारोंका निमित्त पाकर वे पौद्गलिक वर्गणाएँ इस अवस्था रूप बन जाती हैं कि जीवके साथ बँध गयीं और समय पाकर वे बँध गयीं, और निकलते समय जीवके विकारका निमित्त बन गयीं। इस कारण उन पौद्गलिक वर्गणावोंका कर्म नाम उपचारसे है। सीधा नाम तो आत्माके विकारोंका है।

भेदन, छेदन, स्वतन्त्रता व निमित्तनैमित्तिक भाव—आत्माके विकारोंका भेदन होने पर द्रव्यकर्मका भी छेदन होता है। द्रव्यकर्म पृथक द्रव्य है, जिनका नाम द्रव्यकर्म उपचारसे दिया है उनका निमित्त आने पर जो आत्मामें रागादिक विकार हुए हैं वे रागादिक विकार निमित्त भूत द्रव्यकर्मकी किसी भी परिणतिसे नहीं होते। उस समय भी द्रव्यकर्मका जीव विकारमें अत्यन्ताभाव है। निमित्त-नैमित्तिक भाव हो रहे की घटनामें भी द्रव्यकर्मका आत्मामें अत्यन्ताभाव है। हां, इस योग्य यह आत्मा है कि ऐसे कर्मोदयरूप निमित्तका सन्निधान होनेपर यह जीव अपनी परिणतिसे कर्मरूप परिणम लेता है। इतनी स्वतन्त्रता है इसकी।

परतंत्रतामें भी स्वतंत्रता—परतंत्रता नाम उसका है कि कोई पर द्रव्य ही मेरा कुछ करदे, मेरा परिणमन बना दे, सो पर पदार्थ निमित्त होकर भी यह जीव अपनी ही परिणतिसे विकाररूप बनता है। इसलिए वह अपने कर्म करनेके स्वरूप ही है जीव। साथ ही यह भी देखना है कि क्रोध प्रकृतिका उदय आनेपर इस जीवके क्रोध भाव ही हुआ है मानभाव नहीं हुआ है। ऐसी परतंत्रता नजर आती है तिस पर भी निमित्तभूत पर अपनेमें अपनी परिस्थिति बनाकर अपना काम समाप्त करते हैं, इसके आगे निमित्तभूत द्रव्यका कुछ काम करनेको नहीं है। पर यह आत्मा ऐसी ही योग्यता वाला है कि ऐसी घटना और निमित्तकी परिस्थितिमें यह अपनी परिणतिको विकाररूप बना लेता है।

निमित्तनैमित्तिकभाव होनेपर भी स्वतंत्रता—जैसे यहां प्रकाश आ रहा है, ये पदार्थ प्रकाशित हैं। बादल आड़े आ जायें तो यहां का प्रकाश बन्द हो गया, और बादल हट गए तो यहांका प्रकाश फिर आने लगा। तो यह प्रकाश सूर्यसे आया हुआ सूर्यका प्रकाश नहीं है। सूर्य स्वयं प्रकाशमय चीज है, और जगतके इन पदार्थोंके प्रकाशमय बननेमें वह निमित्तभूत है। सो उसके होनेपर प्रकाश हुआ, न होनेपर प्रकाश न हुआ ऐसा अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध देखा जाता है फिर भी सूर्यने इन पदार्थोंको परतंत्र नहीं बनाया। सूर्य अपना काम करता हुआ अपनेमें स्वतंत्र है, और यह भी देखिये कि विचित्र सान्निध्यमें अपनेको नाना पिंडरूप बनाता हुआ चला जाता है यह समस्त पदार्थ, सो ये अपनी ही परिणतिसे नानादशारूप बनते हैं, इतनी स्वतन्त्रता है।

स्वतंत्रताका विवरण—स्वतंत्रताका अर्थ है-अपने ही परिणमनसे परिणम सकना, दूसरेके परिणमनसे न परिणमना, इसका ही अर्थ स्वतन्त्रता है। जैसे

कर्मोंका उदय होनेपर आत्मा अपनी परिणतिसे विकाररूप हो जाता है, तो यहां निमित्त हुआ द्रव्यकर्मका उदय और नैमित्तिक हुए आत्मामें विकार। इन सम्पूर्ण आत्माके विकारोंका निमित्त पाकर नवीन द्रव्यकर्ममें कर्मरूप परिणमन हुआ, तब आत्माका विकार हुआ निमित्त और कर्मरूप परिणमन हुआ नैमित्तिक भाव। और, यह निमित्तनैमित्तिकपना जीवका और कर्मका परस्परमें अनादि परम्परासे चला आ रहा है। तो निमित्तनैमित्तिक दृष्टिसे इन दोनोंमें परतन्त्रता है तिस पर भी अपना विवेक करके ऐसी परतंत्र परिस्थितिमें भी स्वतन्त्रताके देखनेके प्रेमी बनें और संकटोंसे मुक्त हो।

पारतंत्र्यदर्शनमें अलाभ—भैया! परतन्त्रता जैसी स्थितिका कार्य हो रहा है वहां हम यदि अपनी इस वस्तुगत दृष्टिको ढीला करदें तो हमारे उपयोगमें परतन्त्रताका ही नर्तन होगा और इस वस्तुगत दृष्टिको मजबूत पकड़लें तो निमित्त नैमित्तिक भावकी घटनामें भी हमें स्वतन्त्रता नजर आयगी। और, पूर्ण स्वतन्त्रतामें स्वभाव परिणमन है ही। दोनों बातें दिखेंगी। जहां विकार परिणमनकी स्वतन्त्राकी बात कही जा रही है वहां निमित्त आवश्यक है, और जहां स्वभाव परिणमनकी स्वतन्त्रताकी बात कही जाय वहां निमित्तका अभाव रूप निमित्त आवश्यक है। तो बनना चाहिए अपनेको स्वतन्त्रताका प्रेमी। सिद्धांतका अपघात न हो, वे पदार्थ अपनी धारणामें रहें, कहीं इस स्वतंत्रताका इतना अनुचित उपयोग नहीं बनाना है कि जीवके रागादिक जिस समय होनेको होते हैं उस समय होते ही हैं और बाहरी पदार्थोंको निमित्तवालोंके संतोषके लिये कह देते हैं। जगतके समस्त पदार्थ अपने अपने स्वरूपास्तित्व रूप ही हैं इस कारण ऐसे निमित्त नैमित्तिक भावोंकी घटनामें भी कर्म अपनेमें अपना परिणमन कर रहे हैं और उसका निमित्त पाकर जीव अपनेमें अपना परिणमन कर रहा है। जीव अपनेमें अपना विकार परिणमन कर रहा है, और उसका निमित पाकर कर्म अपनेमें अपने विकारका परिणमन कर रहा है। यह तो निमित्त और उपादान की साधारण बात है।

आत्मविकाररूप कार्यका उपादान—अब आत्माके विकारका उपादान क्या है इस सम्बन्धमें यदि विचार करते हैं तो दो तरहसे समझना चहिए। एक ओघरूप और एक विशेषरूप। ओघ कहो या सामान्य कहो। सामान्यरूप उपादानको तो जीव पदार्थ बताया है। यह सामान्यरूप उपादान अपनी जातिके परिणमन का नियामक है, पर किसी विशिष्ट परिणमनका नियामक नहीं है। अर्थात् इस चेतन सामान्य उपादानमें चेतनत्व जातिका उल्लंघन न करके परिणमन होगा मात्र इतना ही नियामक है यह सामान्य उपादान और पूर्वपर्यायपरिणत चेतन पदार्थ उत्तर पर्यायका विशेषरूपसे नियामक है। ऐसा ही परिणमन होना चाहिए।

तो विशेष उपादन हुआ पूर्व पर्याय परिणत चेतन पदार्थ।

विकारपरिणतिका स्रोत—अब इस चेतन पदार्थमें जो विकार हुआ है सो निमित्तदृष्टिसे तो उस द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर हुआ है। उपादानकी दृष्टिसे पूर्व पर्यायके व्ययरूपसे परिणत चेतनसे उठकर होता है। निमित्तभूत कर्मोंसे उठकर नहीं हुआ। तो इस तरह इन दोनोंमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव हैं, पर यह निमित्तनैमित्तिक भाव कैसे मिट जाय, बस यही करना मोक्षका उपाय है। इसके मेटनेका उपाय विभावोंका भेदना है। और, अमन क्या कर सकते हैं। द्रव्यकर्म परपदार्थ है और शरीर भी परपदार्थ है, फिर उसमें यह आत्मा क्या करेगा। आत्माका वश अपने आपके घरमें होगा स्वभाव भी घरका और विभाव भी घरका। इन दोनोंके भेदनेसे स्वभावके विकासकी जागृति होती है विभावोंका भेदन होगा, वहां द्रव्यकर्मका छेदन अपने आप होगा।

परबंधनके निरखकी सुगमता—इस जगतके साथ बंधन तो लगा ही है, क्योंकि सभी जीव अपनेको दुःखी अनुभव करते हैं। और, देखो सबके दिल हैं, सबकी अलग-अलग स्थिति है, मगर सबके न्यारे-न्यारे दुःख हैं। आप और तरह का दुःख करते हैं हम और तरहका दुःख करते हैं, पर जब तक बंधन है तब तक दुःख ही है। दूसरेको ऐसा लगता है कि यह व्यर्थ ही दुःख कर रहा है, न करे दुःख तो क्या हर्ज है, दूसरे दूसरोंको इस तरह देख सकते हैं कि व्यर्थ ही यह क्लेश कर रहा है, न ऐसा करे तो क्या हर्ज है। न करे इसका ख्याल तो क्या बिगड़ता है। यह तो सर्वत्र अकेला ही है। इससे कोई दिल मिला तो नहीं है। सो दूसरेके प्रति तो ख्याल आ जाता है कि व्यर्थ ही यह दुःख कर रहा है किन्तु अपने आप पर जो बात गुजरती है उसका ख्याल नहीं होता है कि मैं व्यर्थ दुःख कर रहा हूं। अपने आत्माके सम्बन्धमें यह ध्यान नहीं आ पाता कि मैं तो प्रभुकी तरह आनन्दमय हूं, कहां क्लेश है। मेरे स्वरूपमें रंच भी क्लेश नहीं है। यह क्लेश बनाया गया है। उदयका निमित्त पाया और अपने परिणामोंको स्वच्छन्द बनाया, विषयोंके पापमें अपने आपको व्यर्थ ही जुटाया। अटक कुछ न था, पर दुःखी हो रहा है। ऐसा ख्याल अपने आपके बारेमें अपने आपको नहीं होता।

परतन्त्रके स्वातन्त्र्यके उपायकी चिंतना—सो भैया! परतंत्र तो यह है ही पर परतन्त्रकी हालतमें भी परतन्त्रतासे हम छूट सकें इसका कोई उपाय भी है कि नहीं? अगर नहीं है तो धर्म पोथी सब बंद करके आलेमें रख दो, क्योंकि कर्मबंध है और परतन्त्रताकी हालतमें भी छूटनेका कोई उपाय है नहीं, तो धर्म पोथी एक तरफ धरो। धर्म तो फिर उनके लिए हुआ जो स्वतन्त्र हों। ऐसे जो स्वतन्त्र हैं उनके धर्म करनेकी जरूरत ही नहीं है। तो धर्म बेकार प्रसक्त होता है, है क्योंकि परतन्त्र को फायदा नहीं, स्वतन्त्र को जरूरत नहीं।

परतन्त्रके स्वातन्त्र्यका उपाय—सो भैया ! कहीं ऐसा धर्म बेकार नहीं है। जो अत्यन्त ही स्वतन्त्र हो गया है, सर्वथा ऐसे प्रभुको धर्म पालनकी जरूरत नहीं है वह खुद धर्म है, वह धर्ममय है, धर्ममूर्ति है। धर्म पालनकी जरूरत तो यहां है परतंत्रको परतंत्र अवस्थामें भी परतंत्रतासे छूटनेका उपाय किया जा रहा है। वह उपाय क्या है कि स्वतन्त्र निश्चल, निष्काम, अनादि अनन्त ध्रुव जो अपना चैतन्य स्वभाव है उसकी जानकारी, उसकी श्रद्धा और उसमें स्थिरताका यत्न करने लगो। क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि हम पड़े तो हों खोटी जगह और स्वाद ले रहे हों अच्छा। ऐसा हो सकता है या नहीं? हो सकता है गृहस्थावस्थामें पड़े तो हैं खोटी जगह, ममताके साधनोंमें, घरके बीचमें, पड़ोसियोंकी कलहमें, यहां वहांके नटखटमें, पर कोई गृहस्थ यदि विरक्त है, ज्ञानी है और उसे बाहरमें कुछ नहीं सुहाता तो उसे ज्ञानका स्वाद आ रहा है कि नहीं? आ रहा है।

पारतन्त्र्यस्थितिमें स्वातंत्र्य दृष्टिके स्वादकी शक्यता—होलीके दिनोंमें आदमियोंको विचित्र रंगोंसे रंग देते हैं आधा मुंह काला कर दिया, आधा नीला कर दिया, ऊपरसे लाल कर दिया, पहिचानमें नहीं आता, ऐसी सूरत बना देते हैं, पर यदि मिठाई खावे तो उसे स्वाद आयगा कि नहीं आयगा? मिठाईका स्वाद उसे आयगा। उसका लोग भयानक चेहरा बना देते हैं पर मिठाईका स्वाद तो उसे आयगा ही। बाहरसे देखनेमें तो यह जीव गन्दे वातावरणमें है पर भीतरसे यह अपने लक्ष्यको अपने स्वरूपमें ले जाय तो उसे ज्ञानका स्वाद मिल सकता है कि नहीं? मिल सकता है। तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें लेनेसे परतन्त्र अवस्था दूर होती है। संसारसे छुटकारा पानेका यही उपाय है।

निज सहज स्वरूपका निजके लक्ष्यमें ग्रहण—भैया ! ज्ञान कर लेना तो आसान है पर अपने लक्ष्यमें उस ज्ञानको लेना, अपने ध्यानमें उतारना यह उससे कठिन है। जैसे रोटीकी बात कह लेना आसान है पर रोटी बनाना और खाना यह बात उससे कुछ कठिन है। रोटीकी बातें करनेसे पेट नहीं भरता पेट तो रोटी खानेसे ही भरता है। उसी तरह वस्तु स्वरूपके ज्ञानकी बातें करनेसे मोक्षमार्ग न मिलेगा किन्तु जैसा स्वतन्त्र पदार्थ जाना है उस प्रकार उसको लक्ष्यमें लेनेसे मोक्षका मार्ग बनेगा। उद्देश्य जिसका कुछ नहीं है वह बाह्य क्रियाएँ करता जाय पर उद्देश्यमें सफल नहीं हो सकता। जैसे नाव चलाने वालेका उद्देश्य कुछ नहीं है कि हमें किस पार जाना है, किस ठिकाने पहुँचना है तो नाव खेता जाय, कभी इस ओर खेता तो कभी दूसरी ओर खेता फिर कभी लौटा दिया, वह नावको किसी ठिकाने नहीं लगा सकता है, तो उद्देश्य बन जाना और भावोंको लक्ष्यमें लेना ये बातें बहुत कठिन है।

स्वयंका कर्तव्य पुरुषार्थ—सो भैया ! इस परतंत्र अवस्थामें भी अपने सत्त्व

के कारण जैसा अपना स्वरूप है उस स्वरूपका ज्ञान करना, भली प्रकार श्रद्धान करना और उस ही स्वरूपमें लीन होना यही है रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और यही है मोक्षका मार्ग, सो यह स्वातन्त्र्यविषयी उपयोग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। मोह राग द्वेष परिणामसे अपना अहित है ऐसा जिसने न जाना और और एक निर्णय होकर मोह रागद्वेषके परिणाममें ही जुटा रहा तो उसका हित नहीं है। इस मोह रागद्वेषमें से सबसे पहिले मिटता है मोह, उसके बाद मिटता है द्वेष और सबसे अन्तमें मिटता है राग। यह सब इस ही जीवको तो करना है।

मोह, राग और द्वेषका विवरण—मोह कहते हैं मिथ्यात्वको, भिन्न-भिन्न, स्वतन्त्र-स्वतन्त्र, अनेक वस्तुओंका सम्बन्ध मानना, कर्तृत्व भोक्तृत्व मानना, सो तो है मोह और परवस्तुविषयक राग करना, पर वस्तु सुहा जाना उसको कहते हैं राग। एक उदाहरण लो-आपका तीन-चार वर्षका एक पुत्र है मान लो। वह कुछ कलावान भी ज्यादा नहीं है, रूपवान भी नहीं है,, घिनावनासा बना रहता है, उस पुत्रसे आपको मोह है और राग भी है, और दूसरा पड़ोसका या परदेशका पुत्र जो चार वर्षका है, बड़ा सुहावना है, अच्छी पोशाक पहिने है, कलापूर्ण बातें करता है बड़े आदमियों जैसी—तो आपको वह बालक सुहायेगा कि नहीं ? सुहायेगा, किन्तु मोह हुआ कि नहीं हुआ ? नहीं हुआ। दूसरेका सु-रूपवान, कलावान बालक सुहा तो जायेगा, परन्तु मोह न होगा। ऐसा ही मोह और रागमें अन्तर है।

मोह, राग और द्वेषके नाश होनेका क्रम—सबसे पहिले छूटता है जीवका मोह, मोह मिटा कि सम्यक्त्व जगा। मोह मिट जानेपर भी अभी राग और द्वेष सतायेंगे, सो जब उत्कृष्ट ऊंचे परिणाम होंगे, अपनेको एकाकी और अकिंचन माननेके परिणाम बनेंगे और ऊंची निर्मलता बढ़ेगी तब जाकर मिटेगा द्वेष। राग भी मिट रहा है पर समूल नष्ट होगा पहिले द्वेष। फिर रह गया केवल राग। सो जब मोह और द्वेषने संग छोड़ दिया तो राग कब तक रहेगा। वह राग भी दूर हो जायगा। यों जब मोह राग द्वेष दूर हो जाते हैं तब इस जीवको केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। अभी अरहंत भी हैं और हैं इस संसारमें शरीरसहित, पर वे भी मुक्त हैं, चार कर्मोंसे तो मुक्त हुए ही हैं, अब केवल अघातिया कर्म रह गए। सो अघातियाका प्रभाव कम है। अरहंत भगवानको न मुक्त बोलते हैं न संसारी बोलते हैं किन्तु जीवन्मुक्त बोलते हैं। प्राणोंसे जिन्दा होकर भी मुक्त है। सो यों जानना कि अपने परिणामोंकी निर्मलतासे बंध कटते हैं इसलिए ज्ञान के साथ साथ अंतरङ्गका संयम भी चाहिए।

दो जिज्ञासुवोंका प्रतिबोधन—यहां मोक्षकी बात चल रही है कि मोक्षका हेतु क्या है। अब तक दो तरहके जिज्ञासु सामने आए, एक तो यह करते हैं कि

बंधके स्वरूपका ज्ञान हो जाय उससे मोक्ष होता है, और एक जिज्ञासुने यह बताया है कि बन्ध मिटे ऐसे चिंतनसे मोक्ष होता है। आचार्य देव कहते हैं कि ये दोनों ही बातें मोक्षकी साधकतम नहीं हैं, किन्तु जिन उपायोंसे बन्ध होता है उनसे उल्टा चलना सो मोक्षका कारण है। बंध होता है रागद्वेष मोहके करनेसे तो रागद्वेष मोह न किए जायें सो मोक्षका कारण है। यही कहलाता है आत्मा और बंधके दो टुकड़े करना। सो इन दोनों जिज्ञासुवोंको भली भांति समझाकर उन्हें इस बातमें लगाया गया है कि तुम आत्माको और विभावोंको भिन्न भिन्न करो, जानो और इस ही रूप ज्ञानका परिणमन स्थिरता बनावो यही मोक्षका हेतु है। अब प्रश्न किया जा रहा है क्या बंधको छेदना ही मोक्षका कारण है? इसके उत्तरमें कहते हैं—

बंधाणं च सहावं वियाणियो अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई ॥२९३॥

मोक्षकी साधना—जो आत्मा बंधोंके स्वभावको और आत्माके स्वभावको जानकर बंधोंसे विरक्त होता है वह पुरुष कर्मोंसे मुक्त होता है। प्रश्नमें जो बात पहिले उठाई गई है उसीका यह समर्थन है, आत्मा ज्ञानमय और आनन्दघन है अर्थात् ऐसा विचार अपने आपके बारेमें हो कि आत्माका स्वरूप ज्ञान और आनन्द है, ज्ञान तो प्रभुका नाम है और आनन्द आल्हादका नाम है। जहाँ रंच आकुलता न हो, समस्त गुणोंकी सम्हाल हो ऐसी स्थितिको आनन्द कहते हैं। यह तो है आत्माका स्वभाव और कर्मबंधोंका स्वभाव कैसा है?

विभावका विदारण—बन्धका स्वभाव आत्मतत्त्वसे विपरीत है। आत्माके ज्ञानमें रोड़ा अटकानेके निमित्तभूत तथा आनन्दसे विपरीत लौकिक सुख और दुःखके परिणामको उत्पन्न करनेमें समर्थ बंधके स्वभावको और आत्माके स्वभावको पहिले जानना आवश्यक है। ये भिन्न-भिन्न जचेंगे। हमारा स्वभाव दुःखके लिए नहीं है पर बंधका स्वभाव दुःखके लिए है। रागादिक विकार उत्पन्न होना केवल अनर्थके लिए है, उससे आत्माको लाभ नहीं है। सो जब यह जान लिया जाता कि आत्माका हित तो आत्माके स्वरूपमें है और अहित विकारमें है तो जो अहितकी चीज है उससे उपेक्षा हो जायगी। यथार्थ ज्ञान बलसे जिसको बंधोंसे वैराग्य हो जाय, अपने राग द्वेष परिणामसे उपेक्षा हो जाय वही पुरुष कर्मोंसे छुटकारा पा सकता है। ज्ञानी जीव जानता है कि मेरा स्वभाव निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र है, और बंधोंका स्वभाव इस आत्मामें विकारोंको करने का है।

मोह, राग, द्वेषसे शांतिकी असंभवता—भैया! कौन जीव रागद्वेष मोह करके शांत हो सकता है? एक भी उदाहरण किसीका दो कि देखो उसने मनमाना राग किया और शांत हुआ। रागके कालमें भले ही बेहोशीसे अपने आपको

प्रसन्न मानें, कृतार्थ मानें पर चूंकि रागका स्वभाव आकुलता ही है सो आकुलता अवश्य करेगा। रातदिन जो क्लेश रहता है वह क्लेश है किस बातका? राग परिणामका, द्वेष तो पीछे हुआ रागके होनेके कारण। किसी राग बिना अन्य वस्तुका लक्ष्य करके सीधा द्वेष कभी नहीं होता। जिस चीजमें राग है उसमें कोई बाधा दे तो द्वेष होता है। तो सीधा होता है राग। सो सब अपने-अपने चित्तको टटोल लो, जो कुछ थोड़ा बहुत क्लेश है वह रागके कारण है। राग न हो तो कोई क्लेश नहीं है। अपनी-अपनी चीज देख लो। घरमें राग, बच्चोंमें राग, इज्जतमें राग, सबमें अपनेको बड़ा कहलवानेका राग, कितने राग बसे हुए हैं। उन रागोंका स्वभाव ही आकुलता है। कोई दूसरा आकुलता नहीं करता। पुण्यका उदय हो और रागके अनुकूल सब साधन भी मिलें, इतने पर भी इस जीवको आकुलता रागके कारण अवश्य है।

जैन सिद्धांतकी वास्तविक भक्ति—जैन सिद्धान्तकी भक्ति तो यह है कि ऐसा सद्विचार बनाएँ, ऐसा सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करें कि जिसके प्रसादसे मोह तो बिल्कुल रहे ही नहीं, राग और द्वेष मंद हो जायें। गृहस्थावस्थामें राग द्वेष बिल्कुल न रहें यह तो नहीं हो सकता। जब आरम्भ और परिग्रहका साधन भी बनाया है तो राग द्वेष तो कुछ न कुछ हुआ ही करेगा, पर यह बात हो सकती है कि मोहबंध न भी हो। ऐसा बिरलेको हो सकता है सो यहां शंका होती है कि यह भी बड़ा कठिन है कि घरमें रहे और मोह न हो, यह तो कठिन मालूम होता है। किन्तु शास्त्र और उदाहरण बतलाते हैं कि ऐसे भी ज्ञानी गृहस्थ होते हैं जो गृहस्थीके बीच, दूकान, परिवार, व्यापार सभी की सम्हाल करते हैं और फिर भी उनके मोह नहीं रहता है।

उदाहरणकी खोज—भैया! भरत जी का उदाहरण प्रसिद्ध है। यदि भरत जी की बात सोचनेसे हृदयपर छाप नहीं पड़ती, क्योंकि वह बहुत पुराना वृत्तान्त है तो अपने ही गांवमें, अपने ही देशमें अगल बगलके गांवोंमें ज्ञानी गृहस्थ मिलते हों उनको देखो तो कुछ असर पड़ेगा। इतिहासमें महापुरुष हुए हैं पूर्वकालके चतुर्थ कालमें, पर कुछ प्रकृति ऐसी है कि वर्तमानमें कोई आदर्श मिले तो उसका असर जल्दी पड़ता है। क्योंकि जो बहुत पहिलेकी गुजरी बात है वह स्पष्ट सामने नहीं आती है और यहाँ वहां कोई ज्ञानी मिले तो उसकी बात स्पष्ट आती है। खोजो अपने गांवमें कोई है ऐसा विरक्त ज्ञानी गृहस्थ कि कार्य भी सब सम्हाले है पर मोह नहीं है।

निर्मोह मानवकी पहिचान—जिसके मोह न हो उसकी पहिचान यह है कि निसर्गतः शांतस्वभावी हो, किसी भी लौकिक कार्यमें हठ न करे, ऐसा हो गया ठीक, ऐसा हो गया ठीक, दूसरे लोग हमारे थोड़े त्यागके कारण यदि सुखी हों

सकते हैं तो वे त्याग करनेमें विशेष सोच विचार न करेंगे। यह है ज्ञानी विरक्त गृहस्थकी पहिचान। धर्मात्माजनोंसे अनुराग होगा, दुःखी पुरुषोंपर उसके दया होगी और आत्माके चरम विकाशकी पूर्ण श्रद्धा होगी, आत्मा है, परमात्मा है, ध्रुव है, जो पदार्थ जैसा है उस प्रकार माननेकी श्रद्धा होगी—यह है ज्ञानी पुरुषकी पहिचान। अपने गांवमें खोजो—मिलेगा ऐसा कोई। ऐसा नहीं है कि न मिले। पर कीचड़से गुथे हुये सोनेकी परख देरसे हो पाती है, न मिले आपके गांवमें तो आसपासके गांवोंमें देखो। पंचम कालके अन्त तक ज्ञानी साधुवोंका भी सद्भाव बताया है तो क्या फिर ज्ञानी गृहस्थ भी न मिलेंगे।

अंतस्तप—ज्ञानी पुरुष यों देख रहा है कि मेरे आत्माका स्वभाव तो राग द्वेष मोह रहित केवल ज्ञाता द्रष्टारूप रहनेका है। इस मुझ आत्मामें जो अनर्थ उत्पन्न होता है, कल्पना जगती है, रागद्वेष मोह होता है वे सब बंधके स्वभाव हैं। ऐसा जानकर जो ज्ञानी बंधसे विरक्त होता है वह इन समस्त कर्मोंसे छुटकारा प्राप्त करता है। इस कथनसे यह जानना कि मोक्षका कारण आत्मा और बंधको भिन्न-भिन्न कर देना है। सबसे बड़ी तपस्या है यह कि अपनेमें जो कल्पनायें उठती हैं, रागद्वेष भाव जगते हैं उनको अपनेसे न्यारा जानो, विकार जानो, बंधका स्वभाव जानो, हेय जानो, और अपने आपको केवल ज्ञाता द्रष्टा ज्ञायक स्वभाव जानो। ऐसा भीतरमें स्वभाव और विभावके भिन्न-भिन्न जाननेका जो पुरुषार्थ है वह पुरुषार्थ मोक्षका हेतु होता है।

स्वघटित ज्ञान—भैया! हम कुछ भी जानें, अपने आपपर घटाते हुए जानें तो हमारा जानना सच्चा है, और केवल एक झूठा आनन्द लूटनेके लिए हम बाह्य पदार्थोंको जानें तो वह हमारा सच्चा ज्ञान नहीं है। घर जाननेमें आ रहा है तो कोई तो यों जानेगा कि मेरा घर है, उसने भी जाना, और कोई यों जानेगा कि मेरा घर नहीं है, इसमें कुछ दिन रहना है, यह भी तो घरका जाना हुआ। परन्तु, पहिले प्रकारका जानना तो मिथ्या है, दुःखके लिए है। और यह मिट्टी ईंटका घर है, हमें इसमें कुछ दिन रहना है, इस तरहका जो ज्ञान है यह सच्चा ज्ञान है—कारण कि इस ज्ञानमें अपने आपपर तत्त्व घटाया। कुछ दिन मुझे इसमें रहना है, मेरे साथ यह घर सदा न रहेगा, ऐसा अपने आपपर घटाते हुए जाना इसलिए वह ठीक ज्ञान हुआ। इसी तरह जो कुछ भी जानों, अपने आपपर घटाते हुए जानों तो वह जानना भला है।

शरीरका स्वघटित ज्ञान—शरीरको जाने तो अज्ञानी यों जानेगा कि यह ही मैं हूं, दुबला हूं, मोटा हूं, गिरती हालतका हूं, चढ़ती हालतका हूं, इस तरह जो जाना उसका ज्ञान मिथ्या है क्योंकि उसने अपने आपपर कुछ बात नहीं घटाया। यह भी शरीरका जानना है, और इस तरह भी शरीरका जानना हो सकता है

कि यह कुछ समयसे बन गया है, कुछ समय तक इसमें मैं रहूँगा, बादमें छोड़कर जाऊँगा। यह शरीर विघटने और गलनेका स्वभाव रखता है। ज्यों-ज्यों उम्र गुजरती है त्यों-त्यों शरीर क्षीण होता जाता है। यह तो कुछ समयको मेरा घर बना है, पर यह मेरा घर सदा न रहेगा, इसे छोड़कर जाना होगा। यह भी तो शरीरका जानना हुआ ना, यों जाननेमें अपने ज्ञानने आपपर बात घटाया इसलिए यह ज्ञान सच्चा ज्ञान हुआ।

बालकपर स्वघटित ज्ञान—विश्वकी कुछ भी बात जान लें, पर अपने आप पर घटाकर जानें तो सम्यग्ज्ञान हो जाय। घरका बालक, गोदका बालक, जिसको गोदमें लिए बिना काम न सरेगा, उसे बहुत कुछ पालना पोषना भी है, जिम्मेदारी और भार भी है फिर भी उसे इस तरह जानना कि यह मेरा पुत्र है, मेरा यही सर्वस्व धन है, इससे ही मेरी शोभा है, इससे ही बड़प्पन हो रहा है, इस तरहसे उस बालकका जानना झूठा ज्ञान है, और उस बालकको इस तरह जाने कि देखो यह जीव किसी गतिसे आया है कुछ समयको इस देहमें रहेगा अपने किए हुए कर्मोंको यह साथ लाया है, मेरेसे यह अत्यन्त भिन्न है, पर इस भवमें ऐसा ही समागम हो गया है कि मेरे ही निमित्तसे मेरे ही निकट इसका जन्म हुआ है, इस तरह अपने आपपर घटाते हुए उस बालकको जानना सम्यग्ज्ञान हो गया।

धर्मपालन—भैया ! जानना भर ही तो है—तो मिथ्यारूप से न जानो, भली विधिरूपसे जानो। जाननेको कोई नहीं रोकता। जानना तो हुआ ही करेगा। जाने बिना आप खाली न बैठ सकेंगे। जानो मगर सब चीजोंको अपने हित अहितका सम्बन्ध जोड़ते हुए जानो। ऐसा जानना यही सम्यग्ज्ञान हो गया। जिस प्रकारके जाननेसे विकार भाव हटे, रागद्वेष मोह दूर हो उस प्रकारके जाननेमें प्रयत्नशील रहो। ऐसा ऊँचा धर्म करनेके लिए बड़ा त्याग करना होगा। परिणामोंमें निर्मलता आए तब धर्म पल सकता है। अपन सबको ऐसा धर्म पालनेका तरीका बनाना है कि जहां चाहे हो, मंदिरमें घरमें अथवा रास्ता चलते हुए में सभी जगह धर्म पाल सकते हैं। मंदिर हमारे आपके धर्म पालनका मुख्य साधन है। सो कितना धर्म पाला जाता है, पर रोज ही भूल जाते हैं। सो उस धर्मके स्वरूपको जाननेके लिए, याद करनेके लिए हमें मंदिर आना चाहिए। पर धर्म तो जहां चाहे आप पाल सकते हो, जहां अपने ज्ञान स्वभावपर दृष्टि हुई और औपाधिक मायाजाल, विकार भावोंसे आपकी अरुचि हुई वहीं आपने धर्म पाल लिया।

शान्तिका साधन—तो भैया ! शांतिका कारण क्या है कि अपने आत्माके स्वभावको जानें। इससे बंधोंसे विरक्ति हो जायगी। अपनी करतूतसे जो क्रोध,

मान, माया, लोभ परिणाम होते हैं उनसे वैराग्य प्राप्त करो। मेरे विनाशके लिए ही ये मेरे मायाभाव होते हैं। उनसे विरक्ति हो तो यह समस्त कर्मोंसे मोक्ष करनेमें कारण है। इस गाथामें पूर्वकथित सिद्धान्तका पूर्ण नियम किया। किसी के भी मोक्षका कारण आत्माका और बंध भावके भिन्न २ कर देनेमें है।

शान्तिसाधना—देखो भैया! धर्मका पालन, मोक्षका मार्ग कितना सुलभ है, भीतरकी दृष्टि सही बने तो यह अत्यन्त सुगम है और एक अपनी दृष्टि सही न बने तो अत्यन्त कठिन है। कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है, इसलिये बहुत बहुत चुप रहकर ज्यादा बातचीत न करके अपने आपमें इस तरहका ध्यान बनाया करें कि मैं आत्मा तो विकाररहित हूँ, चैतन्य स्वभाव मात्र हूँ, जैसा प्रभुका स्वरूप है वैसा मेरा स्वरूप है, पर कर्म उपाधिके सान्निध्यसे ये विकारभाव जगे हैं। रागद्वेष कल्पनाएँ मोह ख्याल ये चीजें मेरी नहीं हैं, ये मेरे अनर्थके लिए हैं, ऐसी ही भीतरमें श्रद्धा बनायें और बंधोंसे विरक्त हों तो इससे शाँति प्राप्त होगी।

आत्मा और बन्धके द्वैधीकरणका साधन—सत्य आनन्द चाहने वाले पुरुषको आनन्दमय अपने आत्माका स्वरूप जान लेना चाहिए और अपने आनन्दमें विघात करने वाले विकार भावोंका स्वरूप जान लेना चाहिए। स्वरमें ऐसी भावना करें कि जितने भी विकार हैं रागद्वेषादिक हैं वे मेरे से पृथक् हैं। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं। ये विकार औपाधिक हैं, ऐसा विवेक करनेपर आत्मासे रागादिक दूर हो जाते हैं। इस ही उपायको एक प्रश्नके उत्तरमें कहा जा रहा है। प्रश्न यह किया गया है कि आत्मा और बंध अलग-अलग किस प्रकार किए जाते हैं? उत्तरमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियमेहिं।
पण्णाछेदणयेण उ छिण्णाणाणत्तमावण्णा॥ २६४॥

सोदाहरण विविक्तीकरण—जीव और बंध अपने-अपने नियत लक्षणोंसे जुदे-जुदे कर दिये जाते हैं। जैसे पानी गर्म हो गया, अब वहां पानीका स्वभाव और पानीमें हुए विकार ये दो बातें अलग-अलग हैं। ऐसा ज्ञान करा देने वाले उनके अपने लक्षण हैं। गर्म पानी होनेपर भी जब यह पूछा जाता है कि पानीका स्वभाव कैसा है तो शीतल बतायेंगे। किन्तु गर्मी क्या है नहीं इस जल में? है. यदि नहीं है तो यह जल गरम कैसे होता। पर जलका स्वभाव गरम हो तो जल ठंडा न होगा। तो गरम होनेपर भी पानीका स्वभाव जैसे ठंडा है इसी प्रकार रागादिक विकार होनेपर भी आत्माका स्वभाव निर्विकार ज्ञानस्वरूप है, ऐसे अविकारी ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्त्वका ज्ञान हो, इस ओर ही उन्मुखता हो तो बंध दूर हो जाता है।

दृष्टि द्वारा शक्तिपरिचयका एक उदाहरण—इस प्रज्ञाको छेनी कहते हैं।

जो छेद दे उसका नाम छेनी है। यह स्वलक्षण पहिचानने वाली बुद्धि स्वभाव और विभावको जुदा कर देती है। और इस तरहसे वे दोनोंके दोनों नानापनको प्राप्त हो जाते हैं. दूधको देखकर लोग बता देते हैं कि इसमें प्रति सेर आधपाव घी निकलेगा, इसमें प्रतिसेर १॥ छटांक घी निकलेगा। घी नहीं दिखता, दूध ही केवल सामने है, घी वहां नहीं है फिर भी बुद्धि ज्ञान प्रतिभा प्रज्ञा ऐसी एक विलक्षण दृष्टि है कि उस ज्ञानके द्वारा वहां यह बता दिया जाता कि इस दूधमें १॥ छटांक घी फैला हुआ है। घी नहीं वहां दिखता है, न वहाँ मौजूद है, फिर भी दूधके स्वभावको, दूधकी सामर्थ्यको देखकर यह कह दिया जाता कि इसमें घी अधिक है, इसमें घी कम है। तो जो पर्यायरूपमें प्रकट नहीं है उस घीको भी जो दृष्टि बता सकती है उस दृष्टिमें ही वह सामर्थ्य है।

व्यर्थका मोह—हमारा आत्मा यद्यपि आज बहुत बंधनोंसे बंधा है, आशा आदिक नाना परिणमनोंमें यह चल रहा है इतने पर भी आत्माका स्वभाव है ज्ञान और आनन्द। जो अपने ज्ञानानन्द स्वभावको पहिचानता है उसका मोह दूर होता है। इस लोकमें दुःख केवल मोहका है। अनन्त जीवोंमें से दो चार जीवोंको आपने मान लिया कि मेरे हैं-बताओ क्या सम्बन्ध है? कुछ समयसे आपके घरमें आए हैं कुछ समय बाद वे बिछुड़ जायेंगे। रंच भी तो सम्बन्ध नहीं है। फिर भी दिलमें ऐसा घर बना हुआ है उनके लिए कि वे ही आपके सब कुछ हैं।

अयथार्थ ज्ञानमें मोह—भैया! जो बात जैसी नहीं है वैसी मानना यही मोह है इससे ही क्लेश है। जगतका वैभव अनित्य है, विनाशी है, पर जिसे जो वैभव मिला है अपने पाये हुए वैभवमें कुछ ऐसा नहीं सोचते हैं कि ये नष्ट हो जायेंगे, दूसरेके वैभवको सोच लेंगे कि यह कितने दिनका है, यह तो नष्ट होगा ही, पर खुदके निकट जो वैभव आया है उसमें बुद्धि नहीं जगती कि इसमें क्या हर्ष करना, यह तो नष्ट हो जायगा। जो चीज नष्ट हो जाने वाली है उसको अविनाशी समझना यही दुःखका कारण है। शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर जड़ है, मैं एक ज्ञान ज्योति प्रकाश हूँ, फिर भी शरीरको ही मानना कि यह मैं हूँ, यह मिथ्या धारणा ही क्लेशका कारण है।

वस्तुस्वातंत्र्य—वस्तुका स्वरूप देखनेपर प्रत्येक वस्तु न्यारी है, निराली है। एक परमाणुके साथ दूसरे परमाणुका सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक जीव न्यारा है। कितना ही घनिष्ट प्रेम हो फिर भी ये परेशान है। हम दोनों जीव एक क्यों नहीं हो पाते हैं? इनका आत्मा एक क्यों नहीं बन जाता, यों मोहीजन अपनेमें परेशानी महसूस करते हैं। किन्तु, सत्य ज्ञानका प्रकाश पायें तो अभी सुखी हो जायें। दुःखी तो जीव कल्पनासे है। कुछ कल्पना कर डालें तो दुःखी हो गये।

परिग्रहपरिमाणकी आवश्यकता—भैया! जिसके पास जितना धन है उससे

अधिकपर यह जीव दृष्टि डाल रहा है, सो जो मिला है उसका भी आनन्द नहीं मिल पाता है। परिग्रहपरिमाण हो जाय कि जो हमारी वर्तमान स्थिति है, गुजारा हो ही रहा है, मुझे इससे अधिक न चाहिए, और कदाचित् उदयवश आ जाय तो उसे मैं न रखूंगा, लोगोंके उपकारमें लगाऊँगा, ऐसी धारणा करके कोई परिग्रहका परिमाण करले और पाये हुए परिग्रहको ही अपनी आवश्यकतासे अधिक जान ले तो उसको संतोष हो सकता है, नहीं तो मान लो जायदाद ५० हजारकी है और दृष्टि यह लग रही है कि कैसे मैं लखपती होऊँ तो उस पाये हुये धनसे भी आनंद नहीं मिल पाता है, क्योंकि तृष्णा हो गयी है। इस तृष्णाके विनाशके लिये परिग्रहपरिमाण अत्यावश्यक है।

धर्मदृष्टिके लिए जीवन—जैन सिद्धान्तमें श्रावकोंके लिए पहिली बात यह बतायी है कि जो तुम्हारी स्थिति हो, जो आय हो उसके ही भीतर गुजारा करके दान देकर संतुष्ट रहो। गुजारेका कोई हिसाब तो है नहीं, मापदण्ड तो है नहीं कि ५०० में गुजारा होता है या २०० में गुजारा होता है या १०० में गुजारा होता है कोई मापदण्ड तो है नहीं। चाहे ५०० खर्च करो। और, कितने ही लोग ५० में ही गुजरा करते हैं ऐसी भयंकर स्थितिमें भी। तो यह तो अपनी-अपनी कल्पनाकी बात है। दुःखी यह जीव केवल कल्पनासे होता है, नहीं तो यह जानना चाहिए कि हम मनुष्य हुए हैं तो एक धर्म पालनेके लिए मनुष्य हुए हैं। हमें यहां अपनी इज्जत नहीं गाड़ जाना है, हमें यहाँ अपना कोई ठाठ नहीं बनाये जाना है। कौन किसे जानता है, किसकी किससे पहिचान है। सब अपने आपके कषाय परिणामके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करते हैं। ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर सबसे उपेक्षा हो और अपने आपमें ही अपने आपको संतुष्ट करे तो इससे शांति मिल सकती है।

संकटका मूल तृष्णा—भैया! जहां इन मायामय जीवोंमें अपनी कुछ इज्जत चाहनेकी बात उत्पन्न हुई कि समझ लो कि संकट लग गये। एक देहाती जो देहातमें बहुत मामूली सात्त्विक वृत्तिसे जीवन व्यतीत करता रहा हो, भाजी रोटा खाता रहा हो, साधारण मोटे कपड़ोंसे अपने आपको संतुष्ट मानता रहा हो और दुर्दैवसे उसे किसी शहरमें रह जाना पड़े तो शहरका रहन सहन देखकर उनका खानपान देखकर या कुछ वैसा ही खानपान थोड़ा मिल गया, रहन सहनका ढंग आने लगा पेंट कमीजका बर्ताव होने लगा, अब जो देहातके सुख थे वे सब दूर हो गये, भोगोंकी इच्छा बढ़ने लगी, कामनाएँ बढ़ने लगीं, अब उसका जीवन दुःखमय हो गये, दुःखमय जीवन बनता है तृष्णासे। तृष्णा होती है जगतके मायामय जीवोंमें अपनेको कुछ दिखा जाऊँ ऐसी कामना होनेसे।

द्वैतदृष्टिमें मोहका ऊधम—भैया! किसीसे लड़ाई हो और वह अकेलेमें

ही हो, उसे गाली सुना दे तो बुरा नहीं लगता और कोई तीसरा देख रहा हो, सुन रहा हो तो उसे बहुत बुरा लगता है, मेरा अपमान कर दिया। जगतके मायामय जीवोंमें कैसा आकर्षण है मोही जीवका कि बिना ही जड़ मूलके कल्पनाएँ बनाकर अपने आपको परतन्त्र बना रहे हैं। भैया! जबतक आत्मदर्शन न हो, सब पर वस्तुवोंका ख्याल छोड़कर मनको विश्राम न दें और केवल ज्ञान ज्योतिका अनुभवन न कर पायें तबतक यह मायाजाल उसे सत्य प्रतीत होता है। यह बात कही जा रही है मोक्षके मार्गकी। यद्यपि गृहस्थावस्थामें इतनी उदासीनता नहीं आ सकती पर किसी किसी क्षण गृहस्थको भी अपने शुद्ध स्वरूपकी झलक होती है। और, उस झलकके प्रसादसे बाकी समयमें भी वह निराकुल रहता है, यह आत्माकी झलक, आत्माका यह अनुभव कैसे प्रकट हो उसकी चर्चा यहाँ की जा रही है।

स्वभाव और विभावके विवेकका अभिन्न साधन—आत्मा और रागादिक बंधन इनको दो जगह करनेरूप कार्यमें यह सोचा जा रहा है कि इस आत्माको साधन क्या मिले, जिससे यह आत्मस्वभाव और ये रागादिक विकार दूर हो जाएँ। इसपर विचार करनेसे यह निश्चय हुआ कि वह उपाय मेरेसे भिन्न नहीं है। मेरेसे भिन्न साधनमें यह ताकत नहीं हैं कि मुझे छुड़ा दें। वह उपाय मेरे में ही है, वह है चैतन्यात्मक साधन। प्रज्ञा, विवेक, बुद्धिसे इन दोनोंके स्वरूपको पृथक् समझ लिया, आत्मा और बंधन इन रागादिक विकारोंसे जब अपने ज्ञानको जुदा मान लिया जायगा तो कभी रागादिक दूर हो जायेंगे।

प्रभुकी आदर्शता—जिनकी हम उपासना करते हैं-अरहंतदेव, सिद्धभगवान इन्होंने यह काम किया था पहिले, अपने स्वभावको पहिचाना और रागादिकसे उपेक्षा की थी जिसके परिणामसे उन्हें उत्कृष्ट पद मिला, आकुलतारहित परिणमन हुआ जो आज भव्य जीवोंके लिए आदर्शरूप हैं, जिनकी आज पूजा करते हैं, जिनके चरणोंमें हम मस्तक झुकाते हैं, जिनकी उपासना की जाती है वे प्रभु इन सब झंझटोंसे मुक्त हुए हैं।

शांतिके सम्प्रदानकी दृष्टिकी आवश्यकता—भैया! देना है सुख और दूर करना है दुःख। तो जिसको हमें शांति देना है वही हमारी नजरमें न रहे तो शांति किसे दें? भववान यह ज्ञायक स्वरूप प्रभु सबके स्वरूपमें मौजूद है, प्रभु बिना कोई नहीं है, सबके घटमें भगवान हैं। सबकी आत्मामें प्रभु बसा है, किन्तु अपने प्रभुस्वरूपका स्मरण नहीं है सो दीन होता हुआ आशा करके भिखारी बन रहा है। जब अपने आपके प्रभुताकी स्मृति होगी तो ये सब संकट दूर हो जायेंगे। हमारे इस परमात्मतत्त्वके दर्शनमें बाधा डालने वाला अहंकार है। पर पदार्थोंमें अहंकार करना, गर्व करना, अपने आपके परिणमनमें अहंबुद्धि रखना, इस अभि-

मानने हमारे प्रभुदर्शनको रोक दिया है। अहंकार न हो तो प्रभुका दर्शन शीघ्र होगा। एक अहंकार ही बीचका ऐसा पर्दा पड़ा है कि इसके कारण यह मैं अपने प्रभुके दर्शन नहीं कर पाता।

अहंकारमें प्रभुमिलनकी बाधकता—अहंकारको लोग लौकिक भाषामें मान रखना कहते हैं–भैया! देखो विचित्र बात कि मनुष्यके सब शरीरमें बेकार चीज नाक है, आंखोंसे तो कुछ काम निकलता है–देखते हैं, कानोंसे राग रागिनीकी बातें सुनते हैं, कुछ आनन्द लेते हैं, मुखसे सुन्दर रचनायें कवितायें बोलते हैं, और सारा जगत व्यवहार इस मुखसे चलता है। हाथ भी काम के हैं, पैर भी कामके हैं, सब अंग कामके हैं पर नाक एक बेकारसी लगी हुई है। इस नाकसे कोई चीज भोगनेमें नहीं आती। यह नाक इस शरीरमें घृणाका साधन है इसलिए यह बेकारसा अंग है, पर यह सबका सिरताज बन रहा है। कहते हैं कि हमारी नाक रख लिया। अरे इस घिनावनी नाककी बात कर रहे हैं, अपना पोजीशन, अहंकार इस नाक पर रखा है? सो जब हम नाकमें अटक जाते हैं तो प्रभुके दर्शन खतम हो जाते हैं। जब हम नाकमें नहीं अटकते हैं तो प्रभुके दर्शन मिल जाते हैं। ठीक है जबतक नाककी ममता रहती है तब तक भगवानके दर्शन नहीं होते हैं। पर नाकके मायने यह शरीर वाली नाक नहीं, किन्तु उस नाकके मायने है अहंकार। जबतक शरीरादिक पर द्रव्योंमें और अपनी करतूतमें अपने विचारोंमें अहंकारका भाव रहता है तब तक इस जीवको समताका कुछ ज्ञानानन्द निधान प्रभुस्वरूपका दर्शन नहीं होता क्योंकि उसकी तो पर्यायमें बुद्धि अटक गयी। अब भगवान कहाँसे मिलें।

दुर्लभ समागमका सदुपयोग—भैया! जैनधर्म जैसा दुर्लभ वैभव पाकर अपना यदि इस समागमसे कुछ लाभ न उठा सके तो यह तो संसार है, जीव जन्मते हैं, मरते हैं, इसी तरह एक यह भी जन्म मिला और मर गए, । लाभ कुछ न लूट सके। मरकर यदि पेड़ हो गए, पक्षी हो गए तो अब क्या करोगे वहां? क्या लाभ लूटा इस भवके पानेका और ऐसा उत्कृष्ट श्रावक-कुल पानेका? जैन धर्म जैसे वस्तुस्वरूपको सही बताने वाले दर्शनको पाने का लाभ लूटो, जितना बन सके उतना लाभ लूट लो। वह लाभ क्या है? खूब ज्ञान बढ़ाओ द्रव्यानुयोग, करणानुयोग सभी अनुयोगोंका खूब स्वाध्याय करो और जैसे व्यापारमें आप ८ घन्टेका समय व्यतीत करते हो वैसे ही, और नहीं तो २ घन्टे तो स्वाध्यायमें समय व्यतीत करो।

स्वाध्यायपद्धति—स्वाध्याय करो सरल पुस्तकोंका, जिस पुस्तकका स्वाध्याय शुरू करो उसको ही रोज-रोज पढ़ो जब तक समाप्त न कर लो। दो कापी साथमें रखो। स्वाध्यायमें जो बात उत्तम लगे उसको एक कापीमें नोटकर लो

ताकि जब आप चाहें तभी उस सारभूततत्त्वसे लाभ ले सकें। दूसरी कापीमें जो आपको शंकायें हों उन शंकाओंको लिखते जावो। जब कोई योग्य विद्वानोंका समागम हो तो उन शंकावोंको उनसे पूछकर दूर करो। जैसे धन वैभव अथवा परिवारके प्रेमकी तृष्णा होती है ऐसी ही तृष्णा लगानी चाहिए ज्ञानके बढ़ानेकी, तो यह मनुष्य जीवन सार्थक समझिये। उसी ज्ञानका यहाँ वर्णन चल रहा है कि कैसा ज्ञान करें कि रागादिक भाव मेरे आत्मासे दूर हों।

प्रतिपदवी बन्धच्छेदकी परिस्थिति—आत्मा और बंध इन दो को अलग कर देनेसे मोक्ष होता है, तो उनका अलग होना भिन्न-भिन्न पदवियोंमें भिन्न रूपसे कहा गया है। जैसे सर्व प्रथम आत्मा और विभाव इनका अलग होना ज्ञान दृष्टि से है। ज्ञानसे जान लिया कि विभाव औपाधिक तत्त्व है और यह मैं चैतन्यमात्र हुँ, ऐसा ज्ञानसे भिन्न-भिन्न पहिचान लिया इसको भी अलग करना कहते हैं पर अभी परिणमनमें अलग नहीं हुआ है परिणमन विभावरूप चल रहा है। फिर जैसे-जैसे आत्मसंयम बढ़ता जाता है यह बंध भी वैसे-वैसे अलग होता जाता है, और अन्तमें ये विभाव स्वभावसे बिल्कुल जुदे हो जाते हैं। उस समय इन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं। और जब शरीर भी नहीं रहता है तो इन्हें सर्वथा मुक्त कहते हैं। तो उस आत्मा और बन्धको जुदा कर देने वाला साधन है प्रज्ञा। प्रज्ञाके द्वारा आत्मा और बंध इन दोनोंको छेद दिया जाय तो नियमसे वह अलग-अलग हो जाता है। इस प्रज्ञाको ही भगवती कहते हैं।

भगवती प्रज्ञा—जैसे लोग कहा करते हैं माँगने वाले कि भगवती तुम्हारी फते करे। तो वह भगवती कौनसी है अलगसे जो हमारी और आपकी रक्षा कर सकती है? लोगोंकी दृष्टिमें तो कोई भगवानकी स्त्री है, पर भगवती शब्दमें भगवान शब्दमें स्त्रीलिंगका प्रत्यय जरूर जुड़ा है किन्तु भगवानके साथ कोई स्त्री है यह अर्थ नहीं है। भगवतः इयं इति भगवती। भगवानकी जो परिणति है उसे भगवती कहते हैं। भगवानकी जो स्वरस्वतः परिणति है उसका नाम भगवती है। जो परिणति भगवानको स्वतंत्र निःसंकट बनाए उस परिणतिका नाम भगवती है। वह परिणति है प्रज्ञा, भेद बुद्धि; भेद बुद्धिसे ही जीवको विजय प्राप्त होती है।

अत्यन्तप्रत्यासन्नका भेदन कैसे?—अब यह शंका होती है कि आत्मा और बंध ये तो बहुत निकटके तत्त्व हैं क्योंकि आत्मा तो चेतक है और बंध चेत्य है। ये रागादिक विकार भोगनेमें आते हैं और भोगने वाला आत्मा है। ये रागादिक विकार अनुभवनमें आते हैं और अनुभवने वाला आत्मा है। तो इस नातेसे आत्मामें और बंधमें चेत्य चेतक भाव बना हुआ है। इन्हें न्यारा कैसे किया जा सकता है जब कि ये एकमेक मिल रहे हैं। ये कुछ दो द्रव्योंकी चीज नहीं है। स्वभावके तिरोभूत होनेसे विभावरूप बन गये हैं फिर इन्हें कैसे छेदा जा सकता

है। जैसे पानी जब गरम होता है तो पानी रंच भी ठंडा नहीं है, पूरा गरम है, कहते अवश्य हैं कि पानी का स्वभाव ठंडा है, पर जिस कालमें वह गरम बन गया है तो ठंडा स्वभाव पूर्ण तिरोहित हो गया है। तो चेत्य चेतक भाव होनेसे अत्यन्त वे निकट हैं, एक परिणतिमें हो रहे हैं फिर उनको कैसे भेदा जा सकता है भेदविज्ञानका अभाव होनेसे एक चेतककी तरह ही उनका व्यवहार हो गया है। शंकामें दूसरी बात यह कही है कि जिस कालमें यह जीव अपनी परिणतिमें अपनेको अभेदरूप अनुभव कर रहा है तो उसमें यह शक्ति ही नहीं है कि परिणतिको और स्वभावको जुदा समझे फिर आत्मा और बंधको कैसे छेदा जा सकता है।

अत्यन्तप्रत्यासन्नोंका भी स्वस्वलक्षणदृष्टि द्वारा भेदन—अब उक्त शंकाका उत्तर देते हैं कि इन दोनोंका जो नियत अपना-अपना लक्षण है उस लक्षणसे इन दोनोंमें जो सूक्ष्म भीतरी संधि है उस संधि पर लक्षण भेददृष्टिरूप करौंतको यदि पटका जाय तो उससे ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते हैं। जैसे पानी जब गरम हो गया है तो वह समस्त पानी केवल गरमीका अनुभवन कर रहा है। गरम रूप परिणम रहा है, फिर ऐसा स्थितिमें हम यह कैसे जान सकें कि गरमी अलग है और पानी अलग है। इसके जाननेका तो कोई उपाय हो ही नहीं सकता, क्योंकि साराका सारा पानी गरमरूप बन रहा है। तो जैसे वहां यह उत्तर दिया जा रहा है कि गरमीका जो लक्षण है और पानीका जो लक्षण है उस लक्षणभेददृष्टिको उस संधिमें डालो, पटको जहां गरमी और पानीका मेल हुआ है, अर्थात् पानीका लक्षण है, स्वभाव है ठंडा होना और गरमीका स्वभाव है गरम रहना, इस लक्षण विवेकसे उपयोगमें वे भिन्न हो जाते हैं।

भैया! वस्तुतः पानीका न ठंडा स्वभाव है न गरम स्वभाव है। ठंडा भी औपाधिक है और गरम भी औपाधिक है। जैसे किसी ठंडी मशीनमें बिजली घरमें पानीको रख दिया जाय तो वह पानी बरफ हो जायगा। तो बरफ हो जाना और इतना अधिक ठंडा हो जाना यह तो पानीका स्वभाव नहीं है। तब पानीका स्वभाव है बहना। लेकिन लोकव्यवहारके माफिक चूंकि जब गरम पदार्थोंका सम्बन्ध नहीं रहता है तो पानी स्वयमेव ठंडा हो जाता है। इस कारण पानीके स्वभावको ठंडा बताया है। गरम हुये पानीके सम्बन्धमें जब लक्षणपर, गुणपर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञानमें वह भिन्न-भिन्न हो ही जाता है।

स्वलक्षणदृष्टि द्वारा भेदनका अन्य उदाहरण—जैसे ५ सेर दूधमें ५ सेर पानी मिलाकर एकमेल कर दिया तो उसमें यह भेद नहीं किया जा सकता कि इतने हिस्सेमें तो पानी भरा है और इतने हिस्सेमें दूध भरा है। दूध और पानी एकमेक हो गये हैं और उस समय दूधको पियेंगे तो न दूधका शुद्ध स्वाद आयगा

और न पानीका शुद्ध स्वाद आयगा। दिल ऐसा करेगा कि इस दूधसे तो पानी पीना अच्छा है। न उसका स्वाद आता है न उसको क्षेत्रमें जुदा-जुदा कर सकते हैं फिर भी ज्ञान द्वारा या यंत्रके उपाय द्वारा ज्ञान करके वहाँ यह समझते हैं कि इसमें आधा पानी है और आधा दूध है। तो यह ज्ञान द्वारा ही समझा। इसी तरह आत्मामें रागद्वेष विकार होते हैं फिर भी इस भेदविज्ञान द्वारा आत्माको और विकारोंको भिन्न-भिन्न समझ सकते हैं।

प्रज्ञासे बन्धच्छेद—जो विकार है वह आत्मा नहीं है, यह पर उपाधिके निमित्तसे होने वाला परिणमन है। इस रूप मैं नहीं हूँ। मैं तो उस रूप हूँ जो अपने ही सत्त्वके कारण जैसा वर्त सकता हूँ, मैं अपने सत्त्वके कारण केवल ज्ञान प्रकाश हो सकता हूँ इसलिए ऐसी ज्ञान वृत्तिसे बने रहना सो तो मैं आत्मा हूँ, और बाकी विकार मैं आत्मा नहीं हूँ, ऐसी प्रज्ञाके द्वारा ज्ञानी भव्य आत्मा और बंध दोनोंका भेदन कर देते हैं।

प्रज्ञा द्वारा द्वैधीकरणका अन्य उदाहरण—अथवा एक दृष्टांत और लो, बरसातके दिनोंमें रास्तेमें छोटे-बड़े गड्ढे होते हैं उनमें पानी भरा रहता है जिन्हें पुखरियाँ बोलते हैं, उनमें पानी गंदा रहता है, मटमैलासा। उस पानीमें यह तो विचार करो कि जैसा वह मटमैला है, जिस रंगका है, क्या वैसा मटमैला होना पानीका स्वभाव है? नहीं है। ज्ञानी जानते हैं कि मटमैलापन मिट्टी आदिके सम्बन्धसे हो गया है, पानीका स्वभाव तो स्वच्छ है जैसा कि कहीं स्वच्छ तालाबमें निर्मल जल भरा हो, वैसा ही उस पानीका भी स्वभाव है, पड़ा तो है वह गंदा जल, किन्तु ज्ञान द्वारा उस गंदे जलमें भी पानीको स्वच्छता नजर आ रही है। इसी प्रकार वर्तमान परिणमनमें यह संसारी जीव रागादिक रूप परिणम रहा है, गंदा है, मलिन है फिर भी ज्ञान द्वारा इस मलिन आत्मामें भी स्वरूप स्वभावको परख सकते हैं और वह स्वभाव एक ज्ञायक स्वरूप मात्र है। तब ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका ग्रहण करना प्रज्ञा द्वारा सम्भव हो गया।

प्रज्ञा द्वारा भेदन और उपादेयका उपादान—प्रज्ञाके दोनों काम हैं जुदा-जुदा कर देना और उनमें से जो अपना उपादेय तत्त्व है उसको ग्रहण कर लेना। जैसे चावल सोधते हैं तो सोधने वालेको यह ज्ञान रहता है कि यह तो चावल है और इसके अलावा जो कुछ भी है वह सब गैर चावल है। कीड़ा हो, धानकी छिलकी हो या और भी अनाज हो, घासका दाना हो वह सब गैर चावल है। तो उसे यह ज्ञात है कि यह चावल है और ये सब गैर चावल हैं तब वह गैर चावलोंको अलग करता है और चावलको ग्रहण करता है। इसी तरह अपने आपके आत्मामें जैसा यह ज्ञात है कि यह चैतन्य चमत्कारमात्र तो मैं आत्मा हूँ और बाकी रागादिक विकार अनात्मा है, पर चीज है तब उन पर तत्त्वोंको छोड़कर अपने चैतन्य

स्वभाव मात्र आत्माको ग्रहण करता है।

परकी आत्मासे सर्वथा विभिन्नता—यहां वह विचारनेकी बात है कि मेरेमें उत्पन्न हुए रागद्वेष भावोंको जब पर बताया गया, छोड़ने योग्य बताया गया, यह मैं नहीं हूं, यह मेरा नहीं है, ऐसा उनमें ज्ञान कराया गया तो शरीर तो उससे भी बहुत मोटी चीज है, राग तो आत्माका परिणमन है, उसे भी जब आत्मासे जुदा कहा गया तो शरीर तो आत्माका परिणमन भी नहीं है। आत्माके सम्बन्धके निमित्तसे शरीरवर्गणाओंका यह पिण्ड बन गया पर है यह कोरा जड़, आत्माका परिणमन नहीं है। तो जब आत्माके परिणमन होनेपर भी रागादिकों को आत्मासे जुदा बताया गया है। तो शरीर तो जुदा है ही, और जब शरीर भी जुदा समझमें आ गया जो कि आत्माके एक क्षेत्रावगाहमें है जिसके बंधनमें अभी आत्मा पड़ा है, शरीर जाय तो आत्मा जाय, शरीर पड़ा रहे तो आत्मा पड़ा रहे, कोई अभी ऐसा नहीं कर सकते कि शरीर जुदा है, आत्मा जुदा है सो शरीर तो वहीं पड़ा रहने दे और आत्मा कहीं दूसरी जगह घूम आये और फिर घूम फिर कर शरीरमें आ जाय कोई ऐसा तो नहीं कर सकता ना। इतना घनिष्ट सम्बंध होनेपर भी शरीरको जुदा बताया गया है तो परिवार और धन मकान इनकी तो कहानी ही क्या है। शरीर और धन मकान तो आत्मासे प्रकट जुदे हैं। परिवारजन अन्यत्र रहते हैं हम कहीं अन्यत्र रहते हैं धन वैभव मकान अन्यत्र खड़े हैं, हम कहीं अन्यत्र पड़े हैं।

धन वैभवका प्रकट पार्थक्य—भैया ! जब अपने इस शरीर तकसे आत्माका सम्बन्ध नहीं है, तो धन वैभवसे कोई सम्बन्धका शब्द ही कहना व्यर्थ है, किन्तु ऐसा संसारी जीवोंमें तीव्र मोह पड़ा है कि धन उनका ग्यारहवां प्राण बन रहा है। किसीको वश करना हो तो उसका पैसा दबा लो या जैसे बड़ी जिम्मेदारीकी सर्विस खजांची बगैरह पदपर जब नियुक्ति होती है तो १०–२० हजारकी जमानत करली जाती है जिससे सरकारको वह विश्वास रहता है कि यह अब गड़बड़ी नहीं कर सकता। तो धन ऐसा ग्यारहवां प्राण बताया गया है। कितनी तीव्र ममता है, स्वयंका जुदा स्वरूप है, न्यारा है, ज्ञानमात्र आत्मा है केवल आत्मामें प्रकाश ही प्रकाश तो है, आनन्द ही आनन्द तो है। अन्य कुछ विकार नहीं है। फिर भी यह मोही जीव बाह्य पदार्थोंपर एक छात्र राज्य करना चाहता है। एक तृष्णाके मारे इस सारे संसारको हड़पना चाहता है, किन्तु किसी भी जीवके द्वारा एक परमाणु भी नहीं हड़पा जा सकता है।

भिन्न-भिन्न स्वस्वलक्षण—यह मैं आत्मा सबसे निराला केवल ज्ञानानन्द प्रकाश मात्र हूं और धन वैभव तो प्रकट जुदे हैं। यह शरीर भी जुदा है, ये रागादिक विकार भी जुदे हैं। नियत-नियत जो अपना-अपना लक्षण है उस लक्षणकी

पैनी परखको संधि पर पटक दें। अर्थात् जिस जगह यह मालूम हो रहा है कि आत्मा और राग एकमेक हो रहे हैं, उस एकमेकके बोध पर जुदा-जुदा लक्षणकी दृष्टि करलें तो वे जुदा हो जायेंगे। देखो आत्माका तो लक्षण है चेतन, जो आत्माको छोड़कर बाकी किन्हीं भी द्रव्योंमें नहीं रहता है, द्रव्यकी जातियां छः हैं, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। चैतन्यस्वरूप जीवमें ही रहता है, पुद्गलमें नहीं और अन्य द्रव्योंमें नहीं।

चेतनमें चैतन्यका तादात्म्य—चैतन्य जीवके सिवाय अन्य किसी द्रव्यमें नहीं पाया जाता है। वह चैतन्य स्वलक्षण प्रवर्तमान होता हुआ जिस-जिसको व्याप करके रहता हो और निवर्तमान होता हुआ जिस-जिसको ग्रहण करके हटकर रहता हो वह सब गुण और पर्यायोंका पुञ्ज आत्मा कहलाता है। अर्थात् जिस-जिस आत्मामें चैतन्यस्वरूप पाया जाय वह सब आत्मा है। तो चैतन्य-भाव अलग हो जाय तो जीव फिर रहा क्या ? जैसे पुद्गलमें भी अस्तित्व गुण है और जीवमें भी अस्तित्व गुण है सो यह सर्वसाधारण भावरूप अस्तित्व गुण जीवमें और पुद्गलमें समान हैं और कुछ ऐसे भी गुण हैं जो जीवमें ही मिलेंगे, पुद्गलमें न मिलेंगे। जैसे ज्ञान, चेतना यह जीवमें ही मिलेगी, पुद्गलमें न मिलेगी। तो जो चैतन्य चमत्कार स्वरूप हो वह तो मैं आत्मा हूँ और जहां चेतनेका काम नहीं है वे सब अनात्मा हैं।

बन्धनोंकी दुःखरूपता—ये रागादिक बंधन मेरे स्वरूप नहीं हैं, मैं दुखी हूँ तो रागदिक भावोंको अपनानेसे दुःखी हूँ। नहीं तो आनन्दमय होना स्वभाव ही मेरा है। अपने आपके घरसे निकलकर बाहरी पदार्थोंमें जो ख्याल बनाए, सम्बंध बनाए, उन बाहरी पदार्थोंके समागमसे अपना बड़प्पन माने तो इस भूलके कारण हमें दुःख होता है, अन्यथा दुःखी होनेका कोई काम ही नहीं है इस समय यह जीव बहुत बड़े संकटमें पड़ा है पुण्यके उदयसे थोड़ा कुछ लाभ हो गया हो कुछ सुख सुविधा मिल गयी हो तो इतने मात्रसे संतुष्ट मत होओ। इस जीवपर घोर संकट है, शरीरसे बंधा है, कर्मोंसे घिरा है, रागादिक भाव सदा बेचैनी पैदा किया करते हैं। इसको बहुत संकट पड़े हुए हैं। अभी जन्में हैं, अब मरना पड़ेगा, नया-नया जन्म लेना होगा। नया-नया शरीर मिलेगा। तो जगतके जीवोंको देख लो—कितनी विचित्र परिस्थितियां हैं। कौनसा इसने आज वैभव पाया कि जिससे हम बड़े संतुष्ट रहें कि पाने योग्य हमने सब कुछ पा लिया।

कर्तव्य कृत्य—भैया ! बहुत काम पड़ा है अभी अपनेको अन्तरङ्गमें करने को। वे काम हैं मोह दूर करना, रागद्वेष दूर करना। सो ये काम तो करना दूर रहो, किन्तु उल्टा काम करने लगा। उन वस्तुवोंमें यह राग करता है, मोह बनाता है और उस मोहसे यह अपनेको बड़ा मानता है, यह बहुत बड़ी भूल है।

बीच में से कुछ हस्तलिपि गुम हो गई है।

अपनी सम्भाल अत्यावश्यक—भैया ! अपनेको सम्भालें तो सब सम्भलेगा और अपनेको न सम्भाला तो सब बिगड़ गया। घरमें कोई विपत्ति आ जाय, इष्ट वियोग हो जाय और घरमें जो बड़ा है, समझदार है वही दुःखोंके मारे बेकाबू हो जाय तो घर वालोंको फिर ठिकाना नहीं है। घरका प्रमुख यदि विपत्तिमें सम्भला रहेगा तो घर वाले भी सम्भल सकेंगे, उनका भी ठिकाना रहेगा। सो हमारे घरका प्रमुख जो उपयोग है वह सम्भला हुआ रहेगा तो सब काम ठीकसे होंगे। हमारा एक मात्र प्रमुख है उपयोग। और सब तो ज्ञानस्वभावकी रक्षाके लिए और सत्त्व बनाए रखनेके लिए सेवकरूप गुण हैं। अच्छा, बताओ—आत्माको सूक्ष्म गुणकी क्या जरूरत थी ? सूक्ष्मत्व न होता तो ज्ञानका रूप क्या बनता ? पुद्गल जैसी स्थूल होनेसे कोई ज्ञानकी सकल क्या बन पाती ? सूक्ष्मत्व गुणने ज्ञानकी सेवाकी। इसकी सत्ता बनी रहने दी। इसी तरह सूक्ष्मत्व ही नहीं, सारे गुण इस ज्ञानस्वभावकी रक्षा के लिए हैं।

भावबन्धच्छेद होने से द्रव्यबन्धच्छेद और फिर देहबन्धच्छेदकी अवश्यंभाविता— यों समझिये। जब यह योगी रागद्वेष रहित निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञानमें रत होता है उस समय द्रव्य कर्मका छिदना होता है और छिद छिदकर जब द्रव्य कर्मका सहारा नष्ट हो गया तो यह शरीर अपने आप अपनी ही वर्गणावोंमें शुद्ध होकर विघट जाता है। कठिन चर्चा है यह, किन्तु ध्यान वृत्तिसे सुनने और समझने वाले श्रोतावोंकी मुद्रा देखने से अथवा कदाचित वक्ताके संकेत देखने से कुछ अनुमान होता है, चीज कहां की, किस प्रकारको कही जा रही है।

निर्विकल्प ज्ञानके सम्बन्धमें एक प्रश्नोत्तर— यहां शिष्य प्रश्न करता है कि जो तुमने बताया निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञान, वह तो हमारे घटमें नहीं उतरा। निर्विकल्प ज्ञान तो बौद्ध लोग भी बतलाते हैं और बौद्धोंके निर्विकल्प ज्ञानमें तुम यह दोष देते हो कि बौद्धोंका ज्ञान है तो निर्विकल्प मगर विकल्प को उत्पन्न करने वाला होता है। मगर तुम जैन तो उनसे भी बढ़कर अनिष्टमें पहुंच गये कि तुम्हारा निर्विकल्प ज्ञान तो स्वरूपसे ही सविकल्प है, उनका निर्विकल्प ज्ञान स्वरूपसे तो निर्विकल्प है। विकल्प ही तो पैदा करना है। किन्तु हे जैनाचार्य तुम्हारा निर्विकल्प तो स्वरूपसे ही सविकल्प है। फिर उस ज्ञान पर इतना नखरा क्यों किया जाता है ? तो इस प्रश्नका उत्तर यह है कि यह निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञान जिसको हम निर्विकल्प स्वरूपका गौरव दे रहे हैं वह कथञ्चित् सविकल्प तो है, फिर भी कथञ्चित निर्विकल्प है।

एक ही बोधमें निर्विकल्पता व सविकल्पताकी सिद्धिमें एक लौकिक उदाहरण— जैसे किसी विषयका आनन्द भोग रहे हो—मानलो बहुत बढ़िया रसगुल्ला आपने बनवाया या खुद बनाया, अच्छा सेका, घी भी खूब डाला, बूरा भी आटेसे ज्यादा नहीं डाला और जब खाने बैठे उसका पूरा आनन्द लूटना चाहते हो तो हाथ पैर टन्नाकर केवल एक धुनमें ही उनको खा लेते हो। उस स्वादका एक रस लेते समय वह ज्ञान निर्विकल्प हुआ या सविकल्प? एक दृष्टिसे तो निर्विकल्प हुआ कि सिवाय भोजनका आनन्द लूटने के और कोई चीजका ख्याल नहीं कर रहे। मगर भोजनके आनन्दके लूटनेमें जो क्षोभ है अन्तरमें वह तो विकल्प है ही।

उदाहरणपूर्वक प्रकृत ज्ञानमें निर्विकल्पता व सविकल्पताकी सिद्धि— तो जैसे वह विषयका आनन्द कथञ्चित् सविकल्प है और कथञ्चित् निर्विकल्प है। स्वसम्वेदन ज्ञानकी अपेक्षा से सरागस्वसम्वेदन होने से सरागसंवेदनके विकल्परूपसे विकल्प तो बड़ा मचा हुआ है फिर भी उस आनन्दके क्षोभके विकल्पको छोड़कर अन्य कोई विकल्पकी चाह नहीं है। कोई सूक्ष्म विकल्प हैं उन पर दृष्टि ही नहीं है। तो सूक्ष्म विकल्प पहिले से अन्तरमें मौजूद हैं, संस्कार भरे हैं। कहीं योगी नहीं हो गए हलुवा या रसगुल्ला खाने से उसके भीतर तो हजारों विकल्प पड़े हैं मगर वह भक्ष्य बन गया, दब गया, उपशांत है। भावमें छिपी हुई आगकी तरह भीतर ही भीतर सुलग रही है, किन्तु मोटे रूपमें अनुभवनके रूपमें वह निर्विकल्प है और वस्तुतः सविकल्प है। उन विकल्पोंकी वहां मुख्यता नहीं ली जा रही है, इसलिए निर्विकल्प कहा जाता है।

निर्विकल्पता व सविकल्पताका विवरण— अब यह विषय दो मिनट बाद दो चार मिनटको सरल आया जाता है, फिर समाप्त होने वाला है। तो जिस ही कारण हमें अपने स्वसम्वेदनके आकारका मुख्य प्रतिभास है, उस निर्विकल्प स्वसम्वेदन ज्ञानको ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान है; सो ज्ञानके स्वरूपका आकार वह ज्ञान परिणम गया। अब हम आपसे पूछें कि उसमें क्या आकार बन गया तो बता नहीं सकते और आकार बना है। बना है ज्ञानके स्वरूपका आकार। सो ज्ञानके आकारका मुख्यतया प्रतिभास होने पर भी अर्थात् इस दृष्टिसे स्वसम्वेदन ज्ञान सविकल्प होने पर भी बाह्य विषय सम्बन्धी अनिहित सूक्ष्म विकल्प है तो भी उनकी मुख्यता नहीं है। यहां मुख्यता है आत्मस्वसम्वेदनकी और उस आत्मस्वसम्वेदन के समय भी अनेक योग्यतायें हैं। सो अनेक विकल्प पड़े रहने पर भी मात्र ग्रहण सम्बन्धी, रागद्वेष सम्बन्धी नहीं, फिर भी उसे निर्विकल्प कहते हैं और कथञ्चित् सविकल्प कहते हैं।

त्रिविधबन्धच्छेदका एक उपाय होनेका समर्थन—प्रयोजन यह है कि हमारा ज्ञान-ज्ञानके स्वरूपको जानता हुआ जब स्थिर होता है तो उस स्वसम्वेदन ज्ञानमें यह सामर्थ्य है कि द्रव्यकर्मका छेदन स्वयं हो जाता है। तो तीनों बंधनों के छेदनेका उपाय केवल एक है—भाव-कर्म रूपी बंधनका विदारण करना। सो इस विषयक ज्ञान हो जाने पर भी यदि ऐसे ज्ञानकी स्थिरता रूप चारित्र नहीं बनता है तो मोक्ष नहीं होता है। इसीको कहते हैं बंधका छेदना। बंधछेदसे मुक्ति है, न बंधके स्वरूपके ज्ञानसे मुक्ति है और न बंध कैसे मिटे, ऐसी चिंता करनेसे मुक्ति है। अतः कल्याणार्थी जनोंको इन बाह्य समागमोंको असार जानकर वैभव, धन, परिवार, इज्जत इनको अपना दिल न बेच देना चाहिए।

समर्पण—भैया! अपना दिल समर्पण करो तो केवल एक निज ज्ञायकस्वरूपको समर्पण करो और इसके ही समर्पणके हेतु पंचपरमेष्ठी भगवानको अपना मन समर्पण करो। अपना मन बेच दो, लगाओ, सौंपो तो केवल दो ही स्थानोंको पंचपरमेष्ठीको या आत्मस्वरूपको। तीसरी कौनसी चीज है जिसको अपना दिल दिया जाय, अपना उपयोग सौंपा जाय? और जिन जगतके जीवोंको दिल दिया जा रहा है तो समझो कि यह मेरे करनेका काम नहीं है। यह तो कर्मोंके उदयके डंडे लग रहे हैं। सो सर्व यत्न पूर्वक अपने आपके आत्मज्ञानकी ओर आएँ और इसही विधिसे बढ़नेका यत्न करें, ये सारी चीजें तो अपने आप छूटेंगी।

प्रज्ञाका कार्य—ज्ञानी जीव बंधोंके स्वभावको और आत्माके स्वभाव को यथार्थ जानकर बंधोंमें अनुरागी नहीं होता, रागादिक विभावोंमें रुचि नहीं करता। यही पुरुष निर्विकल्प समाधिके बलसे राग न करनेके कारण कर्मोंसे छूटता है। बंधोंको और आत्माको भिन्न पहिचानने का साधन प्रज्ञा है, और बंधको हेय करके आत्मस्वभावको उपादेय करना यह भी प्रज्ञाका काम है और विभावोंमें राग न करना, स्वभावके उन्मुख होना यह भी प्रज्ञाका कार्य है, इस तरह प्रज्ञारूपी छेनीसे ये कर्म और आत्मा भिन्न भिन्न हो जाते हैं। जीवका लक्षण तो केवल चैतन्य है, शुद्ध चैतन्य।

शुद्धपना—अध्यात्मशास्त्रमें तथा अध्यात्मयोगके वर्णन करने वाले प्रकरणमें जहां-जहां शुद्ध शब्द आवे, वहां रागद्वेष रहित ग्रहण न करना किन्तु केवल अपने स्वरूपमात्र इतना ग्रहण करना। यह जीव वर्तमानमें अशुद्ध है, रागादिक कर सहित है। तथा कोई भी जीव किसी परद्रव्यका आश्रय नहीं कर सकता। द्रव्यका स्वभाव ही ऐसा है कि अपना ही आश्रय, अपना ही आलम्बन, अपना ही परिणमन करता है ऐसी वस्तुस्थितिके

ज्ञात होने पर जिज्ञासा यह होगी कि यह वर्तमानमें तो अशुद्ध है सो अशुद्धके आलम्बनसे सिद्धि क्या और परका आश्रय कर ही नहीं सकता फिर सिद्धिका उपाय क्या होगा ? यह जिज्ञासा और स्पष्ट रूपसे बताई जायेगी।

परके द्वारा परका राग असंभव—यहां लौकिक व्यवहारकी बातमें वास्तविकता भी जरा निर्णय कर लें जसे कि यह कथन उपचारसे है कि अमुक मनुष्यने अमुक मनुष्यसे राग किया। कोई मनुष्य किसी दूसरे पर कुछ राग कर ही नहीं सकता किन्तु उसने उस दूसरे मनुष्यके बारेमें रागपरिणामका विकल्प किया, इस कारण कहा जाता है कि इस मनुष्यने अमुकसे राग किया। वस्तुतः उसने अपनेसे राग किया, अपना परिणमन किया। कोई जीव किसी दूसरे जीवका आश्रय नहीं कर सकता।

परकी भक्ति कैसे—हम लोग जो कहते हैं कि हम भगवानकी भक्ति करते हैं तो हम लोग भगवानकी भक्ति कर ही नहीं सकते। करते क्या हैं कि भगवानको अपने उपयोगमें विषय बनाकर अपने आपके गुणोंका परिणमन किया करते हैं। और उस अपने गुणोंके परिणमनको चूँकि उस परिणमनका विषय भगवान बनाते हैं इसलिए कहते हैं कि हम भगवानकी भक्ति करते हैं। तो हम परका तो आश्रय कर नहीं सकते और वर्तमानमें हैं अशुद्ध, आश्रय हम अपना ही कर सकते हैं। अब यह बताओ कि जैसे हम वर्तमानमें अशुद्ध हैं ऐसी स्थितिका आश्रय करके मोक्ष मार्ग मिल सकता है क्या ? कभी नहीं मिल सकता है। जो सिद्ध हो चुके हैं ऐसे भगवानका हम आश्रय कर नहीं सकते और हम हैं अशुद्ध, सो अशुद्धका आश्रय करके कल्याण पा नहीं सकते।

निज सहज शुद्ध स्वरूपके अवलम्बनके मोक्षमार्गपना—भैया ! अब क्या उपाय रहा कि हम संसारसे तिर सकें और मोक्ष मार्गमें लग सकें ? यहा उपाय यह है कि हम परिणमन से तो शुद्ध नहीं हैं किन्तु अपने स्वरूपको तो लिए हुए हैं। तो जो केवल मेरा सहज स्वरूप है उसका आश्रय करें। सहज स्वरूपका नाम है शुद्ध स्वरूप। शुद्ध स्वरूपका अर्थ है केवल, प्योर, एलोन, एकाकी। परपदार्थ जितने हैं वे भी अपने आपकी ओरसे शुद्ध हैं और हम सब भी जितने हैं अपने आपकी ओर से शुद्ध हैं। शुद्धका अर्थ केवल अपने स्वरूपको लिए हुए हैं। उस स्वसम्वेदित अपने आपके सत्त्वके कारण जैसा सहजस्वरूप वाला हूं उस पर दृष्टि देनेसे मोक्षमार्ग मिलता है। तो अपने ही अन्तरमें बसे हुए शुद्ध आत्मसत्त्वके आलम्बनसे मोक्ष मार्ग मिलता है।

किसी भी परिणमनके वस्तुस्वरूपत्वका अभाव—जीवका लक्षण है शुद्ध चतन्य। और बंधका लक्षण है मिथ्यात्व रागादिक। जब लक्षणोंकी बात चलती है तब आत्माका लक्षण सर्वज्ञपना भी नहीं है। सर्वज्ञता जीवका लक्षण होता तो अनादिसे जीवके साथ होता। सर्वज्ञता तो प्रतिक्षण नव्य नव्य परिणमन कर रही है। यद्यपि सर्वज्ञताके बाद सर्वज्ञता ही आती है और इस ही शुद्ध परिणमनकी परम्परा अनन्त काल तक रहेगी। फिर भी जो एक समयका सर्वज्ञता रूप परिणमन है वह सर्वज्ञत्व परिणमन दूसरे समयमें नहीं होता।

सदृश परिणमनमें प्रतिक्षण कार्यशीलताका एक दृष्टान्त—जैसे कोई पुरुष १० सेर वजनको हाथके ऊपर एक घंटे तक लादे हुए है, देखनेमें ऐसा लगता है कि एक मुद्रासे स्थिर होकर उस १० सेर वजनको घंटे भर से लादे हुए वह खड़ा है, देखने वालोंको यों दिखता है कि बेकार खड़ा है, यह कुछ भी काम नहीं कर रहा है। जो एक घंटे पहिले किया वैसा ही बना हुआ है, कुछ काम नहीं कर रहा है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। वह प्रतिक्षण काम कर रहा है। जो ८ बजे वजन लादे हुएमें अपनी शक्ति लगा रहा है ऐसी शक्ति लगाने का परिणमन उस ८ बजेके समय हो गया, अब ८ बजकर पहिले समयमें दूसरी शक्ति लग रही है। यों प्रत्येक सेकेण्ड वह नवीन-नवीन शक्तिके उद्योगसे दिखने में आने वाला वही सदृश कार्य कर रहा है।

प्रभुकी निरंतर शुद्धपरिणमनशीलता—इसी प्रकार सर्वज्ञदेव ने जो पहिले समयमें जाना वह पहिले समयकी शक्ति लगाकर जाना। दूसरे समयमें जो जाना वह दूसरे समयमें नवीन शक्ति लगाकर जाना। प्रति समय नवीन नवीन शक्तिका उपयोग चल रहा है और दिखने में यों आता कि प्रभु क्या नया काम कर रहे हैं? कुछ भी तो नहीं करते। जो पहिले समयमें जाना वही इस दूसरे समयमें जान रहे हैं। प्रत्येक पदार्थकी सीमा अनुल्लंघ्य होती है। पदार्थका जो स्वरूप है वह स्वरूप कभी भी किसीके द्वारा मिटाया नहीं जा सकता।

निज सहजस्वरूपका आलम्बन—इस अध्यात्मयोगके प्रकरणमें यह बात चल रही है कि हम कैसे शुद्ध स्वरूपका आलम्बन करें कि हमें मुक्ति का मार्ग मिले। जो अत्यन्त शुद्ध है ऐसा प्रभु, उनका हम आश्रय कभी कर ही नहीं सकते। हमारे आश्रय किए जाने वाले गुण परिणमनका विषय तो प्रभु बन गया है पर आश्रय नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्येक वस्तुका सत्त्व जुदा है। एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका आलम्बन नहीं

कर सकता, स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता, तब निज सहजस्वरूपका आलंबन ही हित है।

अन्यपर रागपरिणमनका अभाव—लोकव्यवहारमें कहा करते हैं कि हमारा तुम पर बड़ा अनुराग है, यह बात सोलह आने झूठ है। प्रथम तो लोकव्यवहारके नाते से भी निश्छल अनुराग नहीं है, सब अपने स्वार्थके कारण अनुराग दिखाते हैं और अन्तरमें वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे देखो तो कोई धर्मात्मा पुरुष भी किसी दूसरे धर्मात्मा पुरुष पर निश्छल अनुराग कर रहा है तो यह सब भी उपचार कथन है। वह धर्मात्मा तो अपने गुणोंकी सेवा कर रहा है। अपने ही गुणोंकी उपासना दूसरे धर्मीको विषय बनाकर प्रकट हो रही है।

मुझमें शुद्ध तत्त्व—तब मुझमें वह शुद्ध तत्त्व क्या है? जिसका आलम्बन करके मैं भवसागरसे तिर सकूँगा। वह शुद्ध तत्त्व वह है कि यदि शुद्ध तत्त्वकी ही खबर रहे, उसकी ही उपासना हो तो जगत्‌में फिर द्वैत नहीं दिख सकता। कोई दूसरा भी है, कोई व्यक्ति भी है यह उस स्वरूपमें नजर नहीं आता। और ऐसे उस अद्वैत चैतन्यस्वरूपकी शुद्ध उपासना बंधको छेदने वाली होती है, किन्तु इस अद्वैत चैतन्यस्वरूपका वर्णन करते और सुनते हुए भी यह न भूल जाना कि यह अद्वैत चैतन्य-स्वरूप अर्थ क्रियाकारी नहीं है, अर्थ क्रियाकारी तो स्वरूपास्तित्व सम्पन्न द्रव्य होता है।

अर्थक्रियाकारितापर एक दृष्टान्त—जैसे आपको दूध चाहिए तो गऊ जातिसे दूध न मिलेगा। दूध तो किसी गऊसे मिलेगा। जाति समस्त गउवोंके स्वरूप साम्यका नाम है। उस स्वरूप साम्य रूप ज्ञानगत गऊ सामान्यसे दूध न मिलेगा। दूध मिलेगा व्यक्तिगत गऊसे। इसी प्रकार अर्थ क्रिया परिणमन होता है। वह प्रत्येक आत्मामें होता है, प्रत्येक आत्मावोंका जो स्वरूपसाम्य है वह है अद्वैत। एक सामान्यस्वरूप भेद न किया जा सकने वाला, ऐसी है वह अद्वैत चेतना। वह जीवका शुद्धलक्षण है और मिथ्यात्व रागादिक विभाव बंधके लक्षण हैं। सो प्रज्ञारूपी छेनी के द्वारा उन दोनोंको पृथक् कर देते हैं।

निर्लेपताका धन्यवाद—उस आत्माका सुभवितव्य है जो आत्मा धन या वैभव मकान आदिके कचड़ेमें उपयोग न फसाकर गृहस्थ हो तो क्या उन सबके बीच रहने पर भी उनमें उपयोग न फँसाकर जलमें कमलकी भांति जलसे दूर अलिप्त रहकर जो अपना अंतःस्वरूप है ऐसे शुद्ध चैतन्यको किसी क्षण उपासना करे तो वही पुरुष धन्य है, पूज्य है,

वंदनीय है। ऐसे शुद्ध आत्माके अनुभवरूप भेद विज्ञानसे प्रज्ञारूपी छेनी से, आत्मस्वभाव और बंधस्वभाव इनको भिन्न कर दिया जाता है। इस तरह जो सावधान पुरुष हैं उनके द्वारा किसी प्रकार यह प्रज्ञा-छेनी इसके स्वभाव और विभावमें डाल दी जाती है।

सावधानता—सावधान किसे कहते हैं? स+अवधान। जो अवधान सहित है उसे सावधान कहते हैं। अवधानका अर्थ है अपने आपमें समस्त रूपोंसे अपने आपको धारण करना। ऐसे अवधान सहित जो पुरुष हैं ऐसे लोग ही निपुण ज्ञानी संत प्रज्ञा-छेनीसे जो कि अत्यन्त तीक्ष्ण है, किसी प्रकार इस स्वभाव और विभावका जो सूक्ष्म संधिबंध है उस पर डालते हैं और शीघ्र ही आत्मा और कर्म इन दोनोंको भिन्न कर देते हैं।

कर्मकी सार्थकता—कर्म नाम है आत्माके रागद्वेष आदिका। आत्मा में रागद्वेषादिक का निमित्त पाकर कोई पुद्गल कर्म, पुद्गल वर्गणाएँ इसके साथ बँध गयीं और उसके निकलनेका निमित्त पाकर जीव फिर रागादिक विभाव करें बैठता है। इस कारण उन पौद्गलिक वर्गणाओंका नाम कर्म उपचारसे रखा है। कर्म नाम वास्तवमें आत्माके विभावका है। आत्मना क्रियते यत्तत् कर्म, जो आत्माके द्वारा किया जाय उसका नाम कर्म है। आत्माके द्वारा पौद्गलिक वर्गणाएँ नहीं की जाती हैं इसलिए उनका नाम कर्म नहीं है। कर्म नाम है आत्माके रागादिक विभावोंका। सो इस तीक्ष्ण प्रज्ञा-छेनीके द्वारा और आत्मामें और कर्ममें भेद कर दिया, तब यह आत्माको अंतरङ्गमें स्थिर और चैतन्य प्रकाशमें मग्न कर देती है।

प्रज्ञाका प्रभाव—यही प्रज्ञा पहिचान कराती है, यही भेद कराती है और यही अपने स्वरूपमें स्थिर कराती है। देखो तो इस भेदविज्ञानकी उपयोगशीलता कि यह भेदविज्ञान इस आत्माको उत्कृष्ट अवस्थामें पहुंचा कर खुद मर मिटता है। भेदविज्ञान सदा बना रहे तो आत्माका कल्याण नहीं है, भेदविज्ञान पहिले है और पीछे निजकी अभेद उपासना चाहिए। ऐसा यह भेदविज्ञान इस आत्माको उत्कृष्ट पदमें धारण कर खुद मर मिटता है। ऐसा परोपकारी है भेदविज्ञान। जैसे कोई परोपकारी पुरुष अपनी जान देकर दूसरेको बचा दे तो उसे बड़ा परोपकारी माना है। इसी प्रकार यह भेदविज्ञान इस आत्माका यथार्थ परिचय कराकर द्वैतसे हटाकर अभेदमें लगाकर खुद मर मिटता है और इसी कारण आचार्यदेव ने भेदविज्ञान शब्द न देकर और उत्कृष्टता बतानेके लिए प्रज्ञा शब्द दिया है जो हमारे साथ शुरूसे अंत तक रह सकता है।

प्रज्ञाका प्रसाद— इस प्रज्ञाका नाम भगवती प्रज्ञा है। भगवती प्रज्ञा फतह करे मायने विजय करे। इस भगवती प्रज्ञाका पूर्वरूप तो भेदविज्ञान का होता है, फिर इस भगवती प्रज्ञाका और तेजस्वीरूप बढ़ाते हैं तब इसका ऐसा प्रचंड तेज रूप बनता है कि रागादिकको भक्षण करके निज देवको उपास्य बनाती है। फिर और इसका प्रचंड तेज बढ़ता है। भगवती प्रज्ञा तब उस तेजमें अपने आपको समस्त विकल्पोंसे हटाकर निर्विकल्प वीतराग स्वसम्वेदन ज्ञान परिणत बना देती है। इस भगवती प्रज्ञाका प्रारम्भसे लेकर अंत समय तक उसका असीम उपकार है। यह प्रज्ञा स्पष्ट प्रकाशमान तेज वाले चैतन्यके प्रवाहमें प्रज्ञको मग्न करती है।

प्रज्ञाका प्रचण्ड निर्णय—भैया! यह है अपने कल्याणकी बात। यहां धर्म जाति कुल आदि सारे नटखट हैं और किसी बातकी धुन न होना चाहिये अन्यथा ये सब अटक बन जायेंगे। इस समय समस्त आवरणों को फाड़कर अपने आपके स्वरूपमें मग्न करनेका वर्णन है। तब यह प्रज्ञा अपने इस आत्मदेवको तो चैतन्य महातेजमें मग्न कर देती है और रागादिक भावोंको अज्ञान भावमें निश्चल कर देती है। अर्थात् पहिले तो ये रागादिक चिदाभास दिखते थे। न हो चैतन्य किन्तु चित्का आभास तो हैं रागादिक क्योंकि रागादिक अचेतनमें नहीं होते, चेतनमें होते हैं, और चेतनके स्वभावसे नहीं होते, इस कारण उन्हें चिदाभास कहा जाता था किन्तु अब इस प्रज्ञाने अपने आपको अपने तेजमें डुबाकर उन रागादिक भावोंको अज्ञान भावमें ही निश्चल कर दिया है। अब वहां चिदाभास जैसी दृष्टि नहीं रहती है।

प्रज्ञाका प्रचण्ड रूप—भैया! बन्धन टूटता है तब सम्बन्धकी लगार नहीं रहना चाहिए। अगर लगा रहे तो वो टूक बात कहां हुई? आत्माके चैतन्यस्वरूपमें और रागादिक विभावोंमें जब भिन्नता की जा रही है, अत्यन्त पृथक् किया जा रहा है और निर्भयताके साथ रागादिकसे मुख मोड़कर केवल चैतन्य तेजमें प्रवेश किया जा रहा है उस समय यह ध्यान बाधक है कि रागादिक चिदाभास हैं, चैतन्यमें ही तो होता है, अरे इतने ख्यालको भी वहां त्यागना पड़ता है।

प्रज्ञाके साम्राज्यका शासन—यहां प्रज्ञा भगवतीके राज्यमें अपने-अपने समयके अनुसार शासन चल रहा है। था चिदाभास, किन्तु उस समय जब कि इस भगवती प्रज्ञाका प्रचण्ड तेज सीमातिक्रान्त था सीमाके अन्त में नहीं पहुंच रहा था तब की बात थी यह कि रागादिक चिदाभास है। जब यह भगवती प्रज्ञा अपने प्रचण्ड तेजके कारण अपने आपके आधार को, प्रियतमको जब चैतन्य महा तेजमें मग्न कर रही है उस समय राग-

दिक भावोंके किसी भी सहूलियत सुविधा या पुरानी दोस्तीके कारण किसी भी प्रकार उन्हें चैतन्यकी वृत्तियोंमें शामिल नहीं किया जा सकता।

आत्मकार्यका अभिन्न साधन—इस तरह आत्मा और बंधका भिन्न भिन्न करने रूप जो कार्य है, उसका करने वाला आत्मा है। अपने कार्य को करनेका साधन अपन ही स्वयं हो सकते हैं। तब किसके द्वारा यह भिन्नता रूप कार्य किया गया? वह है आत्माका ही विज्ञान साधन। ज्ञान का ज्ञानके द्वारा ज्ञान और अज्ञानमें भेद कराकर अज्ञानको छोड़कर ज्ञान को अपनाकर ज्ञानमें ही मग्न हो गया, ऐसे इस अभिन्न ज्ञान साधनके द्वारा परिचयसे लेकर मग्न करने तक समस्त कार्योंको इस ही प्रज्ञाने अथवा ज्ञानने किया। तब कर तो रहे योगी अपनेमें अपना काम और यहां अगल बगलमें देखा तो कर्मोंका छिदना, निःसार, अशरण बन जाना, ये सब काम हो रहे हैं पर उसको योगीके खबर नहीं है।

मोक्षमार्गमें साधककी आत्मवृत्ति—इस अध्यात्मयोगीके ज्ञानयोगके बलसे वहां प्रकृतियोंका छेद-छेद हो रहा है, और हो चुकनेके बाद यह शरीर भी अंतमें कपूरकी तरह बिखर जाता है, किन्तु यह प्रभु अपने आपके ज्ञान साधनमें और आनन्दके अनुभवमें ही तन्मयतासे परिणत है। यों यह योगी पुरुषार्थके बलसे आत्मा और बंधको भिन्न कर देता, विदारण कर देता और फिर यह अपने आपको मोक्ष स्वरूपमें ले जाता। ये सब बातें सबकी हैं। हम आप सब कर सकते हैं और उसको करनेके लिए इन सब समागमों को तुच्छ मानें और मोहमें न अटकें, इन समागमों से विपत्ति मानें तो इस पुरुषार्थमें हम सफल हो सकते हैं।

चैतन्यात्मक आत्माको और अज्ञानमय रागादिक को दो भागोंमें करके अब क्या करना चाहिए, ऐसी जिज्ञासा होने पर उत्तर दिया जा रहा है।

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो ॥२९६॥

बन्धच्छेद और आत्मोपादान—अपने-अपने नियत लक्षणोंके द्वारा प्रथम तो जीव और बंधनका भेद किया जाता है, अथवा जैसे उपाधिके समक्ष रखे हुए प्रतिबिम्बमें जो उपाधिके अनुरूप छायासे चित्रित है वहां दर्पणके लक्षण और औपाधिक छायाका लक्षण जानकर वहां भेद किया जाता है। इसी प्रकार इस चैतन्यस्वरूपी आत्मामें और उपाधिजनित रागादिक विभावोंमें उनके निज-निज लक्षणके द्वारा भेद किया जाता है। सो प्रथम तो आत्मा और बंधमें छेदन कर देना चाहिए और फिर शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना चाहिए।

प्रज्ञाका आदिमध्यान्त चमत्कार—उपयोग द्वारा आत्माका और बंधका द्वैधीकरण पहिले तो श्रद्धामूलक होता है, पश्चात् अंतःसंयमके द्वारा इस रागादिकसे आत्माको कुछ भिन्न किया जाता है और अंतमें रागादिकसे आत्माको सर्वथा निवृत्त कर लिया जाता है। इस प्रारम्भिक माध्यमिक और अन्तिम हितमें सब इस प्रज्ञाका ही चमत्कार है। जिस प्रज्ञा द्वारा प्रारम्भिक स्थितिमें बंधसे आत्मा को भिन्न किया गया है। इसी प्रज्ञा द्वारा भिन्न किए गए आत्माको ग्रहण करना चाहिए। भोजन बनाकर रख दिया। क्यों बनाया भोजन ? उसका प्रयोजन तो खाना है। इसी प्रकार आत्माका और रागादिक भावोंका द्वैधीकरण किया है, किन्तु क्यों किया गया द्वैधीकरण ? इसका प्रयोजन तो भिन्न किए गए शुद्ध आत्माका ग्रहण कर लेना है।

योजना और प्रयोजन—जैसे कोई महिला भोजन तो सबको बनाती जाय और स्वयं कुछ न खाये तो उसे लोकमें क्या कहेंगे ? अथवा कोई घरका मालिक भोजन बनाता जाय, पूर्ण करके रख ले, बस भोजन बनाने के लिए उसने बनाया, उपयोग उसका कुछ न करे तो ऐसी बेढंगी प्रवृत्ति वाले को कौन बुद्धिमान् कहेगा ? इसी प्रकार आत्मा और शरीरको भिन्न समझनेका प्रयोजन है शरीरको भूल जावो और आत्माको ही लक्ष्यमें लो, रागादिक भावोंसे सहज चैतन्यस्वरूप निज आत्मासे भिन्न जाननेका प्रयोजन है कि रागादिक को भूल जावो, उस ओर दृष्टि ही न दो और शुद्ध ज्ञान प्रकाशमात्र चैतन्यस्वरूपको उपयोगमें लो। भेद विज्ञानका प्रयोजन यह ही है कि रागादिक बंधोंसे आत्माको भिन्न जानकर इस शुद्ध आत्माका ही ग्रहण करना चाहिए।

रत्नत्रयमयी प्रज्ञा—जिस परिणति के द्वारा रागादिक रूप बंध छेदा जाता है वह परिणति है निश्चयरत्नत्रय स्वरूप ज्ञानवृत्तिकी परिणति। केवल चेतना जिसका स्वभाव है, अपने सत्त्वके कारण स्वरसतः जानन देखन ही जिसका स्वभाव है ऐसे स्वभावमय परमात्मतत्त्वका सम्यक्श्रद्धान करना अर्थात् रुचिपूर्वक हितकी दृष्टि रखकर उस परमात्मस्वभावको लक्ष्यमें लेना और परमात्मतत्त्वका ज्ञान करना, उपयोग भी फिर अन्यत्र न लगाना और इस ज्ञान दर्शनस्वभावी आत्माके ज्ञानमें ही निरत रहना, यही है निश्चयरत्नत्रय। इस निश्चयरत्नत्रयके परिणमनसे आत्मासे बंधन को अलग कर दिया जाता है।

आत्मपरिचयपद्धति—भैया ! किसी चीज को समझनेकी तरकी जिस प्रकार समझी जाती है उस प्रकार करने से होती है। जैसे सुगंधित फूलका गुण समझने के लिए आंख समर्थ नहीं हैं, उसे तो नासिका द्वारा

सूँघ कर ही जाना जा सकता है कि यह फूल बहुत गुणों वाला है। जब कोई आपसे कहे बांस वाली मिश्रीका डला दिखाकर कि भाई देखो तो जरा इस मिश्रीकी डलीको। तो आप तुरन्त ही डलीको उठाकर मुँहमें रख लेंगे। फिर वह जरा भी लड़ाई न करेगा कि वाह हमने तो तुम्हें देखने के लिए कहा था, तुमने तो मुँहमें रख लिया। क्योंकि वह जानता है कि खानेकी चीजका देखना मुँहके ही द्वारा होता है, आंख द्वारा नहीं होता है। इसी प्रकार आत्माके सहजस्वरूपका परिचय वाणीके द्वारा नहीं होना। आत्माके सहजस्वरूपका परिचय अन्तरमें ज्ञानमें लक्ष्य किए जाने पर होता है। जब यह ज्ञान और जिसको लक्ष्यमें लिया जा रहा है वह ज्ञानस्वरूप जब ज्ञाता ज्ञेय बनकर एकरस हो जाता है तब आत्माके स्वरूपका वास्तवमें परिचय मिलता है। वाणीसे, शब्दोंसे, संकेतोंसे परिचय नहीं मिलता है।

संकेत और संकेतित—जैसे कोई वैद्य शिष्यको जंगलमें औषधियां बताने जाय, एक फुट भरका छोटासा बेंत लेकर और वह बेंतसे इशारा करके बताये कि यह अमुक चीजकी औषधि है, यह अमुक चीजकी औषधि है। तो शिष्यको गुरुके बेंतको न देखते रहना चाहिए क्योंकि उसका बेंत औषधि नहीं है। औषधि तो अन्यत्र है, बेंत द्वारा संकेत की जाने वाली दिशाकी ओर जायें, बेंतपर नहीं जाना है। इसी प्रकार आत्मा के स्वरूपका परिचय कराने वाले शब्दों पर न जाना, ये शब्द जिस ओर को संकेत करते हैं उन शब्दोंको सुनकर खुलकर उस लक्ष्यको लक्ष्यमें लेना यह उपाय है। आत्माके परिचय करने का जो यह उपाय कर लेता है वह तो आत्मज्ञानी बनता है और जो केवल शब्दोंमें अटकता है वह आत्मज्ञानी नहीं हो सकता।

शब्दोंमें अटकनेके कारण—भैया! शब्दोंमें अटकनेके दो कारण होते हैं एक तो अज्ञान और एक मोह। यद्यपि अज्ञान और मोह बात एक ही है फिर भी उस एक मिथ्यात्व परिणमनमें ज्ञानकी कमीका अंश लेकर तो अज्ञान कारण बताया है और परभावोंमें अपनी प्रतिष्ठा रखने के परिणामका अंश लेकर मोहको बनाया है। लोग शब्दोंमें अटक जाते हैं और शब्दोंके विवादमें रह जाते हैं उसका मुख्य कारण किसीको तो अज्ञान बनना है। उन शब्दोंका जो वाच्य है उस स्वरूपको न जान पाया, सो शब्दोंमें ही अपना बड़ा बल लगा रहा है। और एक ऐसा जीव है जिसको इन असमानजातीयद्रव्यपर्याय रूप मनुष्य पर्यायोंमें अपनी कुछ प्रतिष्ठा रखनेका भाव है सो शब्दोंसे तो वे बोलते जाते हैं उस आत्मास्वभाव की ही बात, किन्तु अन्तरमें बसी है यह मलिकता कि लोग समझें कि

यह कितना विशेष आत्माकी जानकारी रखता है ? इस मोहकी अटकसे शब्दोंमें अटक रह जाती है।

विशुद्धभावनाबल—मोह और अज्ञानको कम करके अपने हित की विशुद्ध भावना द्वारा जो इन दोनों पर्दोंको तोड़कर अन्तरमें प्रवेश करता है वह आत्माका परिचय पाता है। सारा जहान यदि मेरी प्रशंसा करने लगे तो उन भिन्न जीवोंकी परिणतिसे क्या आनन्द आ जायेगा ? सारा जहान यदि मुझे भूल जाय अथवा मेरा अपमान करे तो क्या उन भिन्न जीवोंकी परिणतिसे इस मुझमें कुछ बिगाड़ हो जायेगा ? यहां जो कुछ सृष्टि होती है वह सब अपने आपकी दृष्टिके अनुसार होती है। हम अपने आपमें अपने आपको कैसे देखें कि हमारी शिव सृष्टि हो और कैसे देखें कि हमारी भवसृष्टि हो। यह सब मेरी करतूत पर निर्भर है। किसी दूसरे जीवकी करतूत पर निर्भर नहीं है। अपने आपकी शिवमयी सृष्टिके लिए अपनेको शिव स्वरूप तकें, कल्याणमय, ज्ञानानन्दघन।

प्रसादका उपाय—भैया ! किसीका प्रसाद पाना हो तो एक मन होकर उसकी भक्तिमें लगें तो प्रसाद मिलता है। लोकव्यवहारमें भी यदि दसोंसे कोई मित्रता बनाएँ तो उसको किसीसे प्रसाद नहीं मिलता है। क्योंकि वे दसों ही सोचते हैं कि यह मुझपर निर्भर नहीं है, मेरा ही अनुरागी नहीं है। इसके तो दसों मित्र हो रहे हैं। जैसे लोग कहते हैं कि जिसके दसों मामा, गांवमें हों तो वह भूखा भी रह सकता है। क्योंकि सब यही सोचते हैं कि कहीं खा लिया होगा, यहां तो उसके कितने ही रिश्तेदार हैं। जिसका गांवमें केवल एक ही रिश्तेदार है सो उसकी पूरी फिक्र रहती है। २४ घंटेकी चर्याकी परवाह रहती है। हम चाहें कि ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा मुझ पर प्रसन्न हो और इस ज्ञायकस्वरूपके जानी दुश्मन रागादिक भावोंमें हम अपना अनुराग बनाएँ तो ज्ञायकस्वरूप भगवानके प्रसाद की क्या वहां आशा भी की जानी चाहिए ?

स्वरूपसर्वस्व— यह ज्ञायकस्वरूप ही मेरा भगवान है, यह ही मेरा शास्त्र है, यह ही मेरा गुरु है, यह ही मेरा व्रत, तप, संयम है, यह ही मेरा परमार्थ शरण है ऐसा कहनेमें व्यवहारके देव, शास्त्र, गुरुका प्रतिषेध नहीं किया किन्तु व्यवहारमें देव शास्त्र गुरुको मानकर भी परमार्थसे वह अपने परिणमनको ही मान रहा है। एक वस्तुका दूसरे वस्तु पर परिणमन नहीं होता।

क्रोधवृत्तिकी समीक्षा—जैसे आप किसी बालक पर क्रोध करें तो यह बतलावो कि वास्तवमें आप किस पर क्रोध कर रहे हैं ? आपकी बात पूछ रहे हैं और क्रोधकी बात पूछ रहे हैं, आप जितने हैं उतनेको देखकर

बतावो, और क्रोध जिसे कहते हैं उसको देखकर बतावो कि आप क्रोध किस पर करते हैं ? आप अपना कुछ भी काम अपने प्रदेशसे बाहर नहीं कर सकते हैं। यदि करते होते तो आज यह सारा संसार मिट जाता। कोई पदार्थ किसी पदार्थको कुछ कर देता तो यों कुछ भी न रहता और फिर दूसरे भगवान तो अपने आपके सिवाय अन्यका कुछ करने का विकल्प भी नहीं करते, न कुछ करते, किन्तु यहां आप दूसरोंको कुछ करने लगें तो भगवानसे भी बड़ी बात आपमें आ गयी (हँसी)। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमें कुछ करता नहीं है। आप क्रोध अपने ज्ञायकस्वरूप भगवान पर कर रहे हैं, बालकपर नहीं कर रहे हैं। क्रोध स्वभावकी चीज नहीं है। इस कारण क्रोध स्वरूपके निर्माणमें कोई बाह्य विषय होना ही पड़ता है। वह बालक आपके क्रोध-स्वरूपके निर्माणमें विषय मात्र है, पर न आप बालकपर कुछ करते हैं, न बालक आप पर कुछ करता है तो वास्तवमें आपने अपनेको ही क्रोधित किया, अपने पर ही क्रोध किया।

रागवृत्तिकी समीक्षा—इसी प्रकार आप बालक पर जब राग करते हैं तो आपने किस पर राग किया ? आपने केवल अपने आप पर राग किया, बालक पर राग नहीं किया क्योंकि आप अपने प्रदेशमें हैं, बालक अपने प्रदेशमें है। आप अपनेसे उठकर बाहर नहीं जा सकते। आपका परिणमन आपके प्रदेशसे उठकर बाह्य पदार्थोंमें नहीं जा सकता। सो आपने अपने आप पर ही राग परिणमन किया है, बालक पर नहीं किया है।

ज्ञानवृत्तिकी समीक्षा—अच्छा, न आप बालक पर क्रोध करें, न बालकपर राग करें किन्तु बालकको सिर्फ जानते भर हैं। तो आप यह बतावो कि आपने बालककी जाना, क्या यह वस्तुतः सही है ? सही नहीं है। उस समय भी आपने अपनेको जाना। पर वह साकार जानन किसी परको विषय बनाए बिना होता नहीं है। यह साकार जाननकी विधि है। सो उस जाननका विषयभूत वह बालक होता है पर वास्तवमें आपने अपने को ही उस बालकाकार रूपमें जाना, बालकको नहीं जाना।

प्रभुभक्तिकी समीक्षा—इसी प्रकार जब आप प्रभुकी भक्ति करते हैं वहां आप अपने आपके गुणोंके परिणमनरूप अपने गुणोंकी भक्ति करते हैं, किन्तु गुणोंके परिणमन रूप उस भक्तिका निर्माण निर्दोष सर्वज्ञ प्रभु-स्वरूपको विषय करके बन पाया है इसलिए वह प्रभु आपकी भक्तिका विषय है किन्तु आप प्रभुपर भक्ति नहीं कर सकते। अपने आपके गुणोंके परिणमन रूप अपने गुणोंकी भक्ति करते हैं। तो विशुद्ध ज्ञान दर्शन

स्वभावात्मक अपने आत्माके श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप निश्चय रत्नत्रय रूप छैनीसे बंधको पृथक् करना और बंधसे पृथक् किये गये शुद्ध अर्थात् केवल निजस्वरूपमात्र आत्माको ग्रहण करना चाहिए।

समरसनिर्भरा प्रज्ञा—यह शुद्ध आत्मा जब अपने आपके ग्रहणमें आता है तब वीतराग सहज उत्कृष्ट आनन्द रूप समतारससे भरी हुई वृत्तिसे यह आत्मा पकड़में आता है अर्थात् समताको उत्पन्न करती हुई वृत्तिमें आत्मग्रहण होता है। इस प्रज्ञा द्वारा आत्मा और बंधका लक्षण भिन्न-भिन्न पहिचाना था। उसी प्रज्ञामें और तेज बढ़ाकर रागादिक बंधनोंको छोड़कर अपने इस शुद्ध आत्माको ग्रहण कर लेता है। बस इसी प्रकार अपने आत्मतत्त्वमें प्रवेश करना, सोई सर्वसंकटोंसे छूटने का उपाय है।

यह आत्मा प्रज्ञा द्वारा किस तरह ग्रहण किया जाना चाहिए, ऐसा प्रश्न होने पर अब उत्तर दिया जा रहा है।

पण्णाए घेत्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥

आत्मग्रहण—इस प्रज्ञाके द्वारा ऐसा ग्रहण करना चाहिए कि जो यह चेतयिता है सो मैं निश्चयसे आत्मा हूं, और इस चैतन्यभावके अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिए। आत्माको ग्रहण करना आत्माको माननेके द्वारा होता है। यह हाथ पैरके द्वारा ग्रहण में तो आता नहीं। जान लिया जिस रूपसे उस रूपसे अपने को ग्रहण किया। जो लोग अपने को धनिक, परिवार वाला, पढ़े लिखे, इंसान आदिक रूप मानते हैं वे उसीरूपमें अपना ग्रहण करते हैं। किन्तु जिस रूपसे ग्रहण कर रहे हैं वे वह स्वरूप आत्माका नहीं है, इसलिए उस ग्रहण को आत्माका ग्रहण नहीं कहते हैं। आत्माका सहज स्वभाव क्या है, अर्थात् किसी परद्रव्यके सन्निधान बिना अपने आप आत्माका स्वभाव क्या है? वह चैतन्यस्वभाव है। इसका ग्रहण स्वयं तैयार हो तो सकता है, निर्विकल्प वृत्तिमें आए तो ग्रहण हो सकता है।

आत्मग्रहणका बाधक विकल्प—जो चेतयिता है वह मैं हूं। जो चेतना प्रकाशमात्र है वह मैं हूं ऐसा प्रत्यय स्वकी निर्विकल्प चिद्वृत्तिके पुरुषार्थ बिना नहीं हो सकता। मोटी बात यह जान लो अपने बारेमें कि अपना ख्याल जब तक है तब तक आत्माको नहीं समझा। ख्याल उर्दू शब्द इसी लिए दिया है। ख्याल और ज्ञानमें अन्तर है। ख्याल होता है विकल्प लगाकर और ज्ञान होता है जाननस्वभावके कारण। अपना जब तक ख्याल रहे तब तक जानो कि हमने आत्माका अनुभव नहीं किया। अपना

ख्याल रहता है सबको। चींटी भी चलती-चलती यदि कहीं गरम अथवा प्रतिकूल बात मिल जाय तो उसके मुँहके आगे जो छोटी-छोटी दो मूँछ सी लगी रहती हैं उसका स्पर्श होते ही लौट जाती है। तो उसे भी अपना ख्याल है और इस बुद्धिमान मनुष्यको भी अपने बारेमें कुछ ख्याल आता है। जब तक अपना ख्याल है, विकल्प है, तब तक निर्विकल्प ज्ञानप्रकाश का अनुभवन नहीं होता है। यह एक मोटी बात कह रहे हैं जल्दी पहिचानने के लिए कि हम आत्माके निकट पहुंचे या नहीं।

शान्ति जड़ विभूतिसे असम्बन्ध—भैया! सबसे महान् पुरुषार्थ है आत्माका ज्ञान करना। धन वैभव मकान आदि सम्पदाएँ मिलना किस कामके हैं? न इनसे वर्तमानमें शांति है और न आगामी कालमें ये शांति के कारण हैं। शांतिका सम्बन्ध शुद्धज्ञानसे है। शांतिका हेतु यथार्थ ज्ञान है, वैभव सम्पदा शांतिका हेतु नहीं है। प्रथम तो वैभव सम्पदा उदयके अनुकूल है जोड़ते जावो—जोड़ते जावो। उदयकी सीमाका उल्लंघन न होगा। सब जानते हैं—अपनी-अपनी उम्रके भीतर जो घटनाएँ गुजरी हैं, और उदय अनुकूल होता है तो पता नहीं होता और कहींसे आ जाता है, किन्तु लक्ष्मी आये या जावे—इससे शांतिका सम्बन्ध नहीं है।

विचित्र गर्त—इस जीवमें आशारूपी गड्ढा इतना विचित्र है कि और गड्ढोंमें कूड़ाकरकट भरते जावो तो वह भर जाता है पर इस आशाका गड्ढा ऐसा विलक्षण है कि इसमें धन वैभवका कूड़ा जितना भरते जावो उतना ही यह चौड़ा होता जाता है। जो इसके मर्मको नहीं जानते उनको बतावें तो कहेंगे कि क्या कोई ऐसा भी गड्ढा है कि जितना भरते जावो उतना ही बड़ा होता जाता है। यह आशाका गड्ढा ऐसा ही विचित्र है। सो जिसमें इतना साहस है कि जैसी भी स्थिति आए जो भी आय हो, क्या परवाह, उसका तो सीधा हिसाब है कि उस आय के भीतर ही अपने ६-७ हिस्से बनाना और दान पुण्य पालन पोषण आदिके लिए जो हिस्सा नियत किया है उसे भी करना व नियत हिस्सेमें गुजारा करना। तो अपनी नीतिके अनुसार यदि यह जीव चलता है तो उसे कहीं आपत्ति नहीं है।

स्वकीय प्रगति—भैया! न शौक किया जाय तो इससे आत्माका क्या घट जाता है? किन्तु यदि ज्ञानका योग न मिला तो आत्माका सब बिगड़ जाता है। सबसे उत्कृष्ट वैभव है आत्मज्ञान। आत्माके अतिरिक्त अन्य कुछ तीन लोकका वैभव भी आ जाय तो उससे इस आत्मामें क्या आता? जिनकी परकी ओर दृष्टि लगी है वे अन्य पुण्य वंतोंके चाकर बने हुए हैं। क्यों न बनना पड़ेगा चाकर, उन दूसरोंका पुण्योदय है ना, सो

कुछ निमित्त तो बनना ही चाहिए। वहां यह मोही जीव निमित्त बनता है।

सहज व बनावटी तोषका अन्तर—लोकमें सर्वत्र केवल दुःख ही दुःख बसा हुआ है। जो सुखी भी है वह भी अपनी कल्पना बसाये है। आप लोगोंने अंदाज किया होगा कि सहज शांति उत्पन्न होनेसे जो तृप्ति होती है, संतोष होता है वह तृप्ति और शांति किसी भी विषयके भोगमें नहीं होती है। जब योगी अपने आत्माका ध्यान करते हैं, स्थिर आसन करके सीधे बैठकर एक चित्त होकर तो उनके कंठसे अमृत झड़नेके साथ-साथ तृप्ति भी होती जाती है। देखो यह प्राकृतिक व्यवस्था बतला रहे हैं कि जब ध्यान स्वच्छ होता है तो कंठ तो वही है मगर उस कंठसे कुछ सहज ही ऐसा घुटका आता है, और कुछ रससा झड़ता है कि वह तृषाको शांत करती हुई तृष्णा को विश्रांत करती हुई आत्मामें एक तृप्ति ला देती है। विषयोंके सुखके बीच कभी भी वह रस नहीं झड़ सकता। सुख तो जरूर मानते हैं मगर शांतिरस नहीं आ पाता। वे आकुलित होते हैं।

भ्रान्तिका संकट—भैया! बड़ा संकट है जीव पर यह कि वह कुपथ पर चल रहा है और सुपथ मान रहा है। यही है सबसे बड़ा संकट जीव पर। एक गांवके बाहर बढ़ई रहता था तो मुसाफिर लोग उस रास्तेसे जाते तो उससे रास्ता पूछते थे, अमुक गांवका रास्ता कहांसे गया है? तो गया हो पूरबको और वह बताता था पश्चिमको। और साथ ही यह कह देता था कि इस गांवमें मस्खरा लोग बहुत रहते हैं, उनसे तुम रास्ता पूछोगे तो वे उल्टा बतायेंगे, सो तुम उनकी एक न मानना। अब तो इस मुसाफिर पर बड़े संकट छा गए। गांव में पूछता है लोगोंसे तो वे पूरबकी ओर बताते हैं। यह सोचता है कि सचमुच इस गांवके लोग बड़े मस्खरा हैं। ये सीधी रास्ता ही नहीं बताते, उल्टा ही रास्ता बताते हैं। तो जिसको उल्टा रास्ता सीधा जंच रहा हो, सीधा रास्ता उल्टा जंच रहा हो उसके बराबर क्या दुनियामें कोई संकटमें है? नहीं है। घरमें परिवारजनोंसे हिलना मिलना, प्रेम वचनालाप कर मनका बहलावा करना, इनसे यह जीव मानता है कि मैं बहुत सुखी हूं। इस परिणाममें रहने वाला मनुष्य पीछे जब फल भोगता है तब उसे याद होता है कि अहो मैं बड़े ही धोखेमें था।

संसार क्लेशका उपनाम—अच्छा बताओ कैसा ही अधिक कोई आपका प्रियतम हो, उसका वियोग होगा या नहीं? यह निर्णय कर लो। अवश्य वियोग होगा। तो जो संयोगमें अधिक अनुराग करते हैं उन्हें वियोगमें कितना क्लेश करना पड़ता होगा? अनुपात लगा लो सब बातें एक सी पड़ जाती हैं। चाहे दो दिन डटकर हलुवा खा लो और फिर १२ दिन

मूँगकी दाल रोटीमें रहो। हिसाब एक ही पड़ जायेगा। दो दिनमें जो आनन्द लूटा है वह घट करके १० दिनके कष्टमें बराबर मामला रह जायेगा। भविष्यका खतरा और सिरपर रख लिया। संसारके यदि सुखों में आसक्त होकर सुख मानते हो तो उससे कितने ही कष्ट भोगने होंगे।

भली विधिसे जानन—जिसका आत्मा सावधान है, विवेक जागृत है, परको पर जानता है, स्वयंके स्वरूपको स्वयं आत्मरूप जानता है वह पुरुष मोहको प्राप्त नहीं होता। जो कुछ हो जाय वही भला। जो होनेको होता है सो होता है। जो होता है वह सब भलेके लिए ही है। पापी लोग पाप करते हैं, पापके फलमें नरक जाना पड़ता है। क्या नरक जाना भी भला है ? हां नरक भी भला है। उन दुःखोंको भोगकर यह आत्मा भार रहित हो जायेगा जो होता है उसमें ऐसा ज्ञान जगावो कि आपको आप अपना और पर पराया दीखे, तो उसमें कुछ अनाकुलता मिलेगी और चाहे कुछ अनुकूल भी हो और ऐसा ज्ञान बनाया जाय कि जिससे विकल्प बढ़े, तो उससे कुछ हित नहीं है।

भलापनका निष्कर्ष निकालते हुए जाननपर एक दृष्टान्त—एक बार बादशाह और मंत्री जंगलमें जा रहे थे। मंत्री की आदत थी कि प्रत्येक बातमें वह यह कह देता कि यह भी अच्छा है। चलते-चलते गप्पें लग रहीं थीं। बादशाह पूछ बैठा कि हे मंत्री मेरे एक हाथमें एक अंगुल नहीं है, मैं अंगहीन हूं यह कैसा है ? तो मंत्री बोला कि यह भी अच्छा है। बादशाहने सोचा कि मैं तो अंगहीन हूं और यह कहता है कि यह भी अच्छा है। सो उसने मंत्रीको कुएमें ढकेल दिया। राजा आगे बढ़ गया। दूसरे देशका राजा नरमेधयज्ञ कर रहा था। यह किसी हत्यारे जमाने की प्रचलित चीज है कि मनुष्यको भी जलती आगमें भून देते थे। उस राजा ने चार पंडे छोड़ दिये थे कि कोई बड़ा सुन्दर हृष्ट पुष्ट मनुष्य लावो, इस यज्ञमें होमना है। उन पंडोंको मिला वही बादशाह जिसने मंत्रीको कुवेमें ढकेला था। पकड़ कर ले गए। अब उस राजाको एक खूँटेमें बँधा दिया। जब मंत्र जपा जायेगा। स्वाहा होगा तब वह मनुष्य होमा जायेगा। तो अभी स्वाहा में १०-१२ मिनट की देर थी एकाएक ही एक आदमीको दिख गया कि इसके एक अंगुली नहीं है, कहा—अरे यह आदमी होमने के लायक नहीं है। इससे तो यज्ञ बिगड़ जायेगा। सो पंडोंने दो चार डंडे जमाए और भगा दिया। हट, तू हमारी इस यज्ञमें होमनेके योग्य नहीं है। वह बड़ा प्रसन्न होता हुआ चला आ रहा था। सोचा कि मंत्री ने ठीक कहा था कि तू अंगुलीहीन है, यह भी अच्छा है। यदि मेरी पूरी अंगुली होती तो आज मेरे प्राण न बचते। खुश होता हुआ बादशाह आया,

मंत्रीको कुएसे निकाला, और उसे गलेसे लगाया। बादशाहने कहा मंत्रीसे कि तुम सच कहते थे—किस्सा सुनाया। यदि मैं अंगहीन न होता तो बच न सकता था। पर यह तो बतलावो मंत्री कि तुम्हें जो मैंने कुवेंमें ढकेल दिया सो कैसा हुआ? मंत्रीने कहा यह भी अच्छा हुआ। तुम तो अंगुलीहीन बच जाते और मैं होममें होम किया जाता। तो यह भी अच्छा हुआ।

ज्ञानविधिपर सुख दुःखकी निर्भरता—सो भाई सब चीजें सामने हैं। उन चीजोंको देखते हुएमें तुम सुखी भी हो सकते हो, दुःखी भी हो सकते हो। उन वस्तुवोंके विषयमें ज्ञानकी कला तुम जैसी खेल जावो तैसा ही सुख और दुःख तुम्हारे हाथ है। कौन सी घटना ऐसी है जिसमें आपको दुःखी होना पड़े? कोई ऐसी घटना नहीं है। अपना ज्ञान औंधा, सीधा, उलटा चला करता हो तो उसीसे दुःख है। अन्यथा कोई घटना ऐसी नहीं है कि जिसमें दुःखी होना ही पड़े। एक भी नहीं है। आप कहेंगे- वाह इतनी बड़ी जमींदारी छीन ली यह क्या कम घटना है? अरे यह कुछ नहीं है। तुम अपना ज्ञान सीधा बना लो—दुःख मिट जायेगा, और अगर उलटा ज्ञान बनाया कि हमारी इतनी जायदात थी और ऐसी रईसीमें रहते थे, लोग मुझे ऐसा सिर नवाते थे, आज क्या हाल हो गया? ज्ञानक कला ही तो उलटा खेली लो दुःख हो गया। अरे ज्ञानकी सीधी कला यों क्यों न खेल जावो कि दुनियामें तेरे लिए कहीं कुछ नहीं है। तू अपने आपमें अकेला ज्ञानानन्दनिधान प्रभुकी तरह अकेला है। बड़े बड़े राजा महाराजावोंने सब कुछ त्यागा, प्रभुता पायी, तब भगवान हुए, मुक्त हुए।

ज्ञानकलिका—भैया! ये सब कुछ समागम हैं अंततोगत्वा छोड़नेके लिए, ऐसा जानकर किसी क्षण तो सहजचित्प्रकाशकी झलक आए साधुवों की तरह। बात यह है कि साधुवोंको ऐसी झलक निरन्तर आनी चाहिए, किन्तु गृहस्थोंको आत्मतत्त्वके स्पर्श करने वाली झलक रात दिनमें यदि पाव सेकेण्डको भी कदाचित् हो जाय तो शेष समयमें कर्म विपाकवश पर में लगना भी पड़ता है तो भी अनाकुलता अन्तरमें रहती है। दूसरी बात यह है कि हम यथार्थ ज्ञान करलें ज्ञानको तो कोई नहीं रोक सकता। चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु हो— ज्ञान तो आत्माकी वस्तु है। यथार्थज्ञान गृहस्थ को भी होता है, और गृहस्थ यथार्थ ज्ञानके बलसे यदि निर्मोह अवस्थाको धारण करता तो वहां ऐसा नहीं है कि वैभव सब उससे हट जाता है, वैभवका अन्वयव्यतिरेक पुण्योदयके साथ है। वर्तमान आत्माके परिणामके साथ नहीं है।

परिणामोंकी उत्कृष्टताका प्रभाव—भैया! कोई ऐसा समझते हैं कि

जब दुकानदार लोग ग्राहकोंको तिगुने दाम बताते हैं तब सही दाम पर ठिकानेसे सौदा पटता है। यही हाल है लोकका ! जिस स्थितिमें हैं उस स्थितिकी ही दृष्टि रखें तो आत्मामें उस स्थितिके साधक भी योग्य परिणाम नहीं हो सकते। गृहस्थजन अपनी वर्तमान गृहस्थीके योग्य निर्मलता की रक्षा करनेमें तब समर्थ हैं जब ज्ञानकी उत्कृष्टताकी दृष्टि कभी-कभी जगती रहे। सो लोकव्यवहार तो पुण्योदयके अनुकूल है किन्तु आत्महित आत्माकी सावधानीमें है सो उत्कृष्ट ज्ञान व संयमकी दृष्टि रखो।

आत्मग्रहणका उपाय निजभावना--यहां यह बात बतायी जा रही है कि हम आत्माका ग्रहण कैसे कर सकते हैं। जिस प्रज्ञाके द्वारा हमने आत्मासे, रागादिक भावोंको अलग किया उसी प्रज्ञाके द्वारा हम ऐसी भावना बनाएं कि जो चेतने वाला है वह मैं आत्मा हूं। जो रागादिक भाव हैं वह मैं आत्मा नहीं हूं। देखो आप लोगोंके घरमें इतनी दंदफंद लगी है पर इस समय रागादिक भावोंसे विविक्त चैतन्यस्वरूप मात्र आत्मतत्त्वकी कथनी सुननेमें कोई विलक्षण आनन्द भी तो जगता होगा। उससे ही यह अंदाज कर लो कि गृहस्थीमें रहते हुए भी श्रावक इस योग्य होते हैं कि वे किसी क्षण सर्वको भूलकर निर्विकल्प चित्प्रकाशमात्र आत्मस्वरूप की दृष्टि कर सकते हैं। अतः इस अध्यात्मसाधनाके लिए गृहस्थीकी अवस्थाको पूर्ण बाधक नहीं माना। सो जिस स्थितिमें आप हैं उस ही स्थितिमें जब तक भी रहना पड़े तब तक दृष्टि आत्मज्ञानकी करें, लक्ष्य आत्महितका बनाएँ।

आत्महितकी मुख्यतासे नरजन्मकी सफलता—भैया ! यह सोचना भूल है कि मैं घरकी व्यवस्था करता हूं तो व्यवस्था बनती है। घरके लोग आपसे भी अधिक पुण्यवान् हैं, जो बैठे हैं—श्रृङ्गार और आराम साधनों में रहते हैं। उनके पुण्योदयका निमित्त पाकर आपको ये सारे परिश्रम करने पड़ते हैं सो सब कुछ उदयानुसार होता है, पर यह जीवन बड़ी दुर्लभ है। आत्महितकी बातकी मुख्यता देना है।

स्वकी स्वामीमें त्रिकालव्यापकता—ज्ञानी जीव आत्मभावना कर रहा है कि जो यह चैतन्यस्वरूप है सो मैं हूं। बाकी जो मेरे लक्षण रूप नहीं है, अपने लक्षणसे लक्ष्य है ऐसे व्यवहारमें आने वाले समस्त भाव मुझसे न्यारे हैं क्योंकि जो मुझमें सदा रहे वह मेरा है, जो मुझमें सदा नहीं रह सकता वह मेरा नहीं है। किसी इष्टके गुजरनेके बाद उसके बंधु यही सोचकर तो संतोष करते हैं कि वह मेरा नहीं था और युक्ति यह देते हैं कि मेरा वह होता तो मेरे पास रहता। अब अपने ही प्रदेशमें होने वाले भावोंके विषयमें ऐसा ही निर्णय करो। जो मुझमें सदाकाल व्यापक है

अथवा मुझ व्यापकमें जो सदा काल व्याप्य है, अर्थात् जो मुझमें सदा काल रह सकता है वह तो मेरा है और जो सदा नहीं रह सकता वह मुझ से अत्यन्त भिन्न है।

क्रान्तिकी साधना— भैया ! जब दोस्ती तोड़ी जाती है तो मूलसे तोड़ी जाती है, थोड़ी लगार रखने में भी भिन्नता नहीं होती है। यद्यपि ये रागादिक विभाव आत्माके गुणके विभाव परिणमन हैं जिस कालमें हैं उस कालमें मुझमें तन्मय हैं, तिस पर भी जब लक्षणभेदसे भेद किया जाता है तो मैं अत्यन्त भिन्न हूं और रागादिक अत्यन्त भिन्न हैं। इस कारण मैं ही मुझको मेरे ही द्वारा, मेरे ही लिए मुझसे ही मुझमें ही ग्रहण करता हूं।

परमार्थप्रतिबोधका साधन व्यवहार—यह मैं जो मुझमें सदा काल व्यापक है वह अन्य कुछ नहीं है, वह मैं ही हूं। समझने के लिए अपने आपको भेदबुद्धिसे स्वरूप और स्वरूपीका भेद किया है। मेरा क्या है ? मैं हूं, ऐसा कहने पर दूसरा क्या समझेगा ? और कोई तो यह भी कह बैठेगा कि यह पागलपनको जैसो बात है। जैसे पूछा कि इस खम्भे का कौन अधिकारी है ? इस खम्भेका खम्भा अधिकारी है। इस चौकीका कौन मालिक है ? इस चौकीका चौकी मालिक है। परमाणुका कौन मालिक है ? परमाणुका वही परमाणु मालिक है। पर इसका अर्थ क्या निकला ? अर्थ तो कुछ नहीं निकला। पर जो परके मालिक बने बैठे हुए हैं उनको समझानेके लिए वस्तुको अद्वैत बताने के लिए उस समय और कोई उपाय नहीं है। इस कारण इन शब्दोंमें कहना पड़ता है कि परमाणु का मालिक परमाणु है। आत्माका मालिक आत्मा है। मेरा मैं हूं। इस रहस्यको समझने के लिए स्वरूप और स्वरूपीका भेद किया जाता है। मेरा तो चैतन्यस्वरूप है, धन वैभव आदि मेरा नहीं है।

आत्मप्रतिबोध—भैया ! अब अपनी बात देखो, वह चैतन्यस्वरूप तुझ से कोई अलग चीज है क्या ? जिसका तू अपनेको मालिक बनाना चाहता है वह अलग कुछ चीज नहीं है पर व्यवहारीजनोंको समझाते हैं सो व्यवहारभाषामें समझा रहे हैं। व्यवहार भाषाका यहां अर्थ है भेदविज्ञान भाषा। उससे यहां भेद करके समझाया है इस ज्ञानी पुरुषने प्रज्ञाके द्वारा आत्मामें और विभावमें भेद किया और भेद करनेके पश्चात् प्रज्ञाके ही द्वारा विभावको छोड़कर आत्माको ग्रहण किया। तो यह ज्ञानी अपने आत्माको किस प्रकारसे ग्रहण कर रहा है उसका यहां विवरण है। मैं ग्रहण करता हूं। जैसे बाहरकी चीजोंमें कहते हैं ना कि मैं घड़ीको ग्रहण करता हूं, इसी तरह मैं आत्माका ग्रहण करता हूं तो किस तरह ? मैं

अपनेको जानता हूं, यही ग्रहण है।

मेरी क्रियाका आधार—मैं अपनेको कहां जानता हूं? मंदिरमें जानता हूं क्या? मंदिरमें तो मैं हूं ही नहीं। अभीकी ही बात कह रहे हैं। क्या आप मंदिरमें बैठे हैं? जब आप अपने आत्मस्वरूपको जानने का प्रसंग बना रहे हैं, उस स्थितिमें आप कहां बैठे हुए हैं? आप अपने आत्मामें बैठे हैं, मंदिरमें नहीं बैठे हैं। मंदिर क्षेत्र, आकाश प्रदेश अन्य द्रव्य है, आप चैतन्यस्वरूप आत्मा अन्यद्रव्य हैं। कोई द्रव्य किसी दूसरे अन्य द्रव्यमें प्रवेश कर सकता है क्या? नहीं कर सकता है। किन्तु जरा दृष्टि बाहरमें डालें तो देखते हैं कि मंदिरमें ही तो बैठे हैं। आंखें खोलकर देखें तो ऐसा लग रहा कि हम मंदिरमें अच्छी तरह बैठे हैं और जब दृष्टि अपने अंतःस्वरूपमें लगायें तो यह लगता कि यह मैं अपने में ही पड़ा हूं, मैं अपनेको ग्रहण कर रहा हूं। अपने में ग्रहण कर रहा हूं, याने अपने आपमें अपने ज्ञान गुणके परिणमन द्वारा अपने आपको प्रतिभास रहा हूं।

आत्मक्रियाका साधन और संप्रदान—ऐसा मैं किसके द्वारा जान रहा हूं? अपने ही द्वारा। परमार्थतः न इसमें गुरु साधन है, न प्रभु साधन है, न दीपक साधन है, न शास्त्र साधन है, न वचन साधन है। अपने आप को जाननेका साधन मैं ही हूं। तो अपने द्वारा जान रहा हूं। किस लिए जान रहा हूं? दूसरेके पालनके लिए नहीं, कुछ बाहरमें संचय करने के लिए नहीं, अपने आपके जाननके लिए जान रहा हूं। जाननके आनन्दके लिए जान रहा हूं। कभी कोई नई चीज देखी जा रही हो तो आसपासके छोटे बच्चे भी घुटने टेककर, हाथ टेककर पास बैठे हुएके कंधे पर हाथ धरकर सिरको झुकाकर देखते हैं, जानते हैं। वे क्यों जानते हैं? उन्हें कुछ मिलता नहीं है। केवल जानने के लिए ही जानते हैं, उन्हें कुछ मतलब ही नहीं है। जानता हूं, अपने लिए जानता हूं, जानन ही प्रयोजन है।

आत्मक्रियाका अपादान—यह जो मैं जान रहा हूं सो जानन तो ऐसा हो रहा है किन्तु बादमें वह जानन मिट गया। अब अगले समयमें दूसरा जानना हो गया। जिस पेड़के पत्ते सूखकर झड़ गए फिर नये पत्ते हो गए, इसी तरह यह जानन परिणमन होकर मिट गया, तुरन्त ही नवीन जानन परिणमन हो गया, पर यह किससे निकलकर मिटा? यह जानन परिणमन मुझसे ही निकला और मिटा, फिर और जानन हुआ सो मैं इस जानते हुएसे जानता हूं।

ज्ञानस्वरूपके ज्ञानके ज्ञानपना—इस तरह यह ज्ञानी जीव विभावसे अपनेको जुदा करके जान रहा है। यह है ज्ञान और बाकी चीज है

ज्ञान। जो ज्ञान ज्ञानको जाने परमार्थज्ञान वही है। जो ज्ञान अज्ञान भावको जाने वह ज्ञान अज्ञानको जाननेसे अज्ञान है।

चेतनकी मात्र एक क्रिया चेतना—इस तरह यह मैं आत्माको ग्रहण कर रहा हूं। तो ग्रहण क्या कर रहा हूं? मैं चेत रहा हूं अपने आपको। क्योंकि मेरी क्रिया सिवाय चेतने के और कुछ नहीं है। हम दूसरों पर गुस्सा करेंगे तो क्या कर डालेंगे दूसरोंका? कुछ नहीं। उस समय भी हम अपनेको चेत रहे हैं पर पर्याय रूपसे चेत रहे हैं। हम कुछ भी कर रहे हों, खोटा परिणमन या भला परिणमन या शुद्ध परिणमन, सर्वत्र हम अपनेको ही चेतते हैं। और कुछ नहीं करते हैं। तो चेतना ही मेरी क्रिया है। सो मैं अपनेको चेतता हूं। यही ग्रहण करनेका भाव है। और यह मैं अपनेको चेत रहा हूं, सो जिसे मै चेत रहा हूं वह मैं दूसरा नहीं हूं।

चेतना सामान्यक्रिया—चेतता हुआ ही मैं चेत रहा हूं और चेतते हुएके द्वारा मैं चेत रहा हूं, चेत रहे के लिए मैं चेत रहा हूं और चेत रहे में चेत रहा हूं। चेत रहा हूं का अर्थ है प्रतिभास रहा हूं। चेतनाके दो दो परिणमन हैं जानन और देखन। जाननमें भी चेत है और देखनमें भी चेत है। यहां दोनों को न बनाकर जो दोनोंमें एक बात घटी ऐसा सामान्य गुणकी दृष्टिसे वर्णन है और मै यहां चेत रहा हूं? इस चेतते हुएमें चेत रहा हूं।

भेदाभ्यासियोंके लिये कारकव्यवहार—भैया! यह एक है और परिणम रहा है। किन्तु यहां ऐसे जनोंको समझता है जो अपने व्यवहारमें भिन्न भिन्न बातें मानते थे। जैसे मैं मंदिरमें कलमके द्वारा स्याहीसे इस पुस्तक को तुम्हारे समझानेके लिए लिख रहा हूं। ऐसी ही भेदबुद्धिकी बातें कल्पना लगी हुई हैं, वहां पर भी न मैं लिख रहा हूं, न मंदिरमें लिख रहा हूं, न समझाने के लिए लिख रहा हूं, किन्तु वहां भी मैं चेत रहा हूं। जिस रूपको चेत रहा हूं उस रूप चेत रहा हूं। जब अपने नियत कामसे अन्य-कामोंमें वृत्ति होती है तब क्षोभ होता है। यह मैं तो इस अभिन्न षट्-कारकमें अपने आपको ग्रहण कर रहा हूं। यहां क्षोभका निशान भी नही है।

अखण्डभावमें पहुंच—देखिये पहिले भी ग्रहणकी बात, फिर आई चेतनेकी बात और अभिन्न षट्कारकमें चेतनेकी बात। यहां किसी परि-चितकी यों बुद्धि होती होगी कि क्या फिजूल कहा जा रहा है? वह तो है और यों बर्त रहा है। इतना ही मात्र तो वहां तत्त्व है और घुमा फिर, कर कर्ता करण आदि बातें करके कितनी बातें क्यों व्यर्थ बोली जाती हैं

तब उससे उत्कृष्ट बात अब यह समझमें आयी कि अब मैं न चेत रहा हूं, न चेतता हुआ चेत रहा हूं, न चेतते हुएके द्वारा चेत रहा हूं, न चेतते हुएके लिए चेत रहा हूं, न चेत रहेसे चेत रहा हूं, न चेत रहेमें चेत रहा हूं, न चेतते हुए को चेत रहा हूं किन्तु मैं तो सर्व विशुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूं। मैं कर कुछ नहीं रहा। मैं तो एक चिन्मात्रभाव स्वरूप पदार्थ हूं, यही आत्माका परमार्थ ग्रहण है।

अभिन्नषट्कारकतापर सर्पका दृष्टान्त—एक दृष्टांत लो मोटा, एक सांप गुड़ेरी करके बैठ गया। सांप लम्बा होता है ना। अपने शरीरको गोल बनाकर बैठ गया। हम आपसे पूछें कि सांपने क्या किया? अपने को गोल किया। तो उसने अपनेको गोल किसके द्वारा किया? अपने ही द्वारा किया। जैसे हम यहां रस्सीको गोलकर देते हैं लाठी वगैरहसे, क्या इसी प्रकार सांपने अपने को किसी दूसरी चीजके द्वारा गोल किया? अपने ही द्वारा गोल किया। अरे तो ऐसा गोल किस लिए किया? हमारे लिए किया, या किसी को खेल दिखानेके लिये किया? अपने लिए किया। तो उसने गोल किसमें किया? अपने में किया और ऐसा गोल किस अपादानसे किया? अरे उसका शरीर लम्बासा पड़ा था, उस शरीरसे ही एक गोल परिणमन बना दिया। तो क्या बोलेंगे? सांपने अपनेको अपने द्वारा अपने लिए अपने से अपने में गोल कर दिया। यह बात जरा जल्दी समझमें आ रही है क्योंकि हम आंखों देखते हैं। पर इसका अर्थ है क्या? कोई इस वृत्तिको देख रहा हो तो वह पुरुष कहेगा कि क्या किया उसने? वह है और यों हो गया। इतनी ही तो वहां बात है। क्यों इसको बड़ी भाषाओंमें बढ़ा-बढ़ाकर बोल रहे हैं?

अद्वैतचेतन—इसी तरह आत्माने अपने को अपनेमें अपने लिए अपनेसे अपने द्वारा अपनेमें प्रतिभासा, पर ऐसा वहां कुछ भेद नहीं पड़ा है और प्रतिभास हो गया। तो वह प्रतिभास होना भी प्रतिभास रूप भाव है। इसलिए अब और उसके स्वरूपमें प्रवेश करते चला जा रहा है कि मैं न चेतता हूं, न प्रतिभासता हूं, प्रतिभसते को नहीं प्रतिभासता हूं, प्रतिभासते के द्वारा नहीं प्रतिभासता, प्रतिभासते के लिए नहीं प्रतिभासता, प्रतिभासतेमें नहीं प्रतिभासता, प्रतिभासते से नहीं प्रतिभासता किन्तु प्रतिभास स्वरूप हूं, चैतन्यमात्र भाव वाला हूं। इस तरह यह ज्ञानी पुरुष धर्मपालन कर रहा है, यही है उत्कृष्ट धर्मका पालन। जहां केवल अद्वैत निज ब्रह्मस्वरूपके प्रतिभासमें आ रहा हो इससे और ऊँचा क्या पुरुषार्थ होगा?

हिंसादित्यागमें परमार्थ अहिंसाका प्रयोजन—उस अद्वैत आत्मप्रतिभास

की स्थितिके पानेके लिए ही ये समस्त व्रत समिति, तप, चारित्र, अभक्ष का त्याग ये सब पालन किये जाते हैं। करना पड़ता ही है जिसने जीवके स्वरूपको जाना वह अभक्ष्य कैसे खायेगा? उसके मनमें यह न आयेगा कि इसमें असंख्याते कोई त्रस जीव हैं और उनके ऐसे अपघातसे मरण हो जायेगा तो इससे भी नीची गतिमें वह पहुंच जायेगा और मोक्षमार्गसे दूर हो जायेगा। यह जीव निगोद जैसी निम्न स्थितिसे उठकर दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय जैसी ऊँची स्थितिमें आ गया तो वह यद्यपि मनहीन है तो भी मोक्षमार्गके विकासके लिए एक कुछ विकासमें न आया। कुछ अच्छी स्थिति में तो आए और उन कीड़ोंको दांतोंसे चबाकर मार दे तो वह संक्लेशसे मरेगा कि न मरेगा? तो मोक्षमार्गसे और नीचे गिरा कि नहीं। यद्यपि कोई तीन इन्द्रियकी अवस्था मोक्ष मार्ग नहीं है, मगर व्यञ्जन पर्यायोंके विकासमें जो विकास की स्थिति है उसको तो गिरा दिया।

ज्ञानियोंकी अनुपम करुणा—ज्ञानी जीवको बस यह करुणा उत्पन्न होती है कि यह जीव मोक्षमार्गमें लगे, मोक्षमार्गसे गिरे नहीं, उलट न जाय, ऐसी होती है ज्ञानी संतोंकी अपार करुणा। जो जिस शैलीका है उसको उस शैलीकी दया होती है। दीन दुःखी दरिद्र भूखे बालक पर जितनी जल्दी दया महिलावोंको जिस रूपमें आ सकती है उस रूपमें दया शायद पुरुषोंको नहीं आती है क्यों कि महिलावोंका उस विषयसे सम्बन्ध है। कोई पुरुष अर्थके सम्बन्धमें कुछ फंस गया हो, रकम डूब रही हो, इससे जो विकल हो रहा हो, उसकी बेचैनीको जितना पुरुष लोग अंदाज में ले सकते हैं उतना शायद महिलायें नहीं ले सकती हैं। सो जिसकी जैसी जो स्थिति है, सम्बन्ध है उस तरहकी दया होती है, ज्ञानी जनोंको, साधुजनोंको, जीवों को, ज्ञान देनेके लिए, ज्ञानी देखनेके लिए करुणा उत्पन्न होती है क्योंकि यह अपने आपमें चिन्मात्र भावका अनुभव करते हैं। सो अन्यपर भी दया करते हैं कि अपने आनन्द अवस्थाका अनुभव करो।

आत्मग्रहणकी प्रक्रिया—आत्माको कैसे ग्रहण करना चाहिए, इस उपायमें प्रथम तो प्रज्ञा द्वारा विभाव और स्वभावमें भेद किया, जो हो फिर मिट जाय वह विभाव है और जो अनादि अनन्त अहेतुक सनातन तादात्म्यरूप हो वह स्वभाव है। ऐसा भेद न करनेके पश्चात् विभावको तो यदि आत्मस्वरूपसे न माना और चैतन्यस्वभावको आत्मतत्त्व माना, यही हुआ आत्माका ग्रहण। इस ग्रहणमें यह आत्मा अपने आपमें इस प्रकार अनुभव करता है कि जिसको शब्दों द्वारा बांधा जाय तो यों कहा जाता

है कि यह मैं अपने आपमें चेतते हुए अपने आपको चेतता हूं।

अभेद और अखण्ड अभेद—ज्ञान दर्शनसामान्यात्मक जो प्रतिभास स्वरूप है उसका क्रियामुखेन यह वर्णन है। मैं चेतते हुएको चेतता हूं, चेतते हुएके द्वारा चेतता हूं। चीज तो वहां एक ही हो रही है। उसको भेद षट्कारकके अभ्यासियोंको षटकारक द्वारा समझाया जा रहा है। मैं चेतते हुएके लिए चेतता हूं, चेतते हुएसे चेतता हूं और इस चेतनमान में ही चेतता हूं। किन्तु ऐसा कुछ भेदरूप है क्या? यह है और मात्र चेत रहा है। तब इस उपायसे और अन्तर्मुख वृत्ति होनेमें अन्तर्मुखी वृत्तिको यों शब्दोंमें आंका जाता है कि न मैं चेतता हूं; न मैं चेतने वाले को चेतता हूं, न चेतते हुएके द्वारा चेतता हूं, न चेतते हुएके लिए चेतता हूं, न चेतते हुएसे चेतता हूं, और न चेतनमानसे चेतता हूं, किन्तु सर्व विशुद्ध चैतन्यमात्र हूं। इस बातको सांपके दृष्टांत द्वारा स्पष्ट किया गया था।

अभेद और भेद परिज्ञानका आंदोलन—अब इसके उपसंहारमें यहां यह कह रहे हैं कि जो कुछ विधिपूर्वक भेदे जानेमें शक्य हैं उन-उन चीजोंसे तत्त्वसे भेद कर दो और फिर वहां से भिन्न करके अपने आपमें ऐसा अनुभव करें कि चैतन्य मुद्रासे अंकित है अपने सम्बन्धकी महिमा जिसमें ऐसा शुद्ध चैतन्यमात्र मैं हूं, यह ही प्रतिभास हो। यहां तक विभावोंसे निवृत्ति करके अपने आपके स्वरूपमें आना हुआ है। अब जिस उपयोग में बड़ी सावधानी बनी जाने पर भी सीमाके अन्तर तक कुछ चढ़ा घटी होती ही रहती है। सो यद्यपि यह शुद्ध चैतन्य चैतन्यमात्र स्वरूप तक आया लेकिन इस अभेदके बाद फिर भेदसे उत्थान होता है। इस सम्बन्ध में यदि कारणोंके द्वारा भेद होता है अथवा गुणोंके द्वारा भेद होता है, अथवा धर्मोंके द्वारा भेद होता है तो भेद होना भी सब अभेदके पोषणके लिए है। पर इस चिन्मात्र आत्मतत्त्वमें परमार्थतः कोई भेद नहीं है।

भेदप्रतिषेधके लिये भेदव्यवहार—गुण भेद, धर्म भेद और कारकभेद क्या है? धर्म भेद तो यह है कि अपना आत्मा अपने स्वरूपसे है और समस्त परस्वरूपसे नहीं है। यह धर्मभेदका उदाहरण है ऐसा, पर ऐसी बात श्रुतज्ञानके विकल्पोंमें है, वस्तु तो जैसा है वही है। गुणभेद इस आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, शक्ति है, आनन्द है। यों गुणोंका निरूपण करना यह सब गुणभेद है। यह ज्ञानादिभेद भी इस अभेद चैतन्यस्वरूपके प्रतिबोधके लिए है। कारकभेद हुआ यह मैं आत्मा करता हूं, क्या करता हूं? अपना परिणमन करता हूं। वह परिणमन है जाननस्वरूप। मैं जानता हूं। बस हो गया कर्म, आगे विकल्प ये उत्पन्न होते हो। कैसा

जानता है ? किसको जानता है, काहे के लिए जानता है, किसके द्वारा जानता है, इन सब विकल्पों के समाधान के लिए इस ही अभेद वस्तु में षट्कारकपने का भेद बताया गया है।

कारकादिभेद से भी वस्तु के अभेद का अविनाश - सो—इस प्रकार का कारकभेद, धर्मभेद और गुणभेद किया जाता है और वस्तु को भिन्न-भिन्न किया जाता है तो किया जाय पर इस तरह इस भावमें इस व्यापक भाव में, इस विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में किसी भी प्रकारका भेद नहीं है। यही अध्यात्मयोगी का लक्ष्य है। जिसको पूर्णसत् मानकर ब्रह्मवाद प्रतिभासाद्वैतवाद ज्ञानाद्वैतवाद आदि अद्वैतवाद उत्पन्न हुए हैं। प्रत्येक वस्तु अद्वैत है। वस्तु यदि स्वरूप से अद्वैत नहीं होती तो वस्तु का सत्त्व नहीं रह सकता। प्रत्येक वस्तु स्वातिरिक्त अन्य समस्त पदार्थों से अत्यन्त विविक्त है तभी उसका सत्त्व है। और इतना ही नहीं किन्तु कार्य का सम्बन्ध है, न प्रभाव का सम्बन्ध है, न शक्ति संक्रमण का सम्बन्ध है।

भैया! जो कुछ होता है विश्व में औपाधिक परिणमन, सो परिणमन वाला उपादान पर उपाधिका निमित्त पाकर स्वयं की परिणति से उस रूप परिणमता है। उसका ही व्यवहार भाषामें निमित्तका प्रभाव हुआ, यह कहा जाता है। वस्तुतः उपादान से निमित्त को पाकर अपने में जो योग्यता रूप प्रभाव था उसको व्यक्त किया है। जैसे न्यायालय में जजको देखकर देहाती लोगों के छक्के छूट जाते हैं और निपुण शहरके लोग दनादन पास पहुंचते हैं और हौंसले से खुलकर बातें करते हैं। देहाती पर जज का प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु देहाती की अज्ञानता, अपरिचितता, अबोधता आदिक जो चित्त की कमजोरियां थीं उन कमजोरियों का प्रभाव जज का निमित्त पाकर व्यक्त हो गया। ऐसी ही बात सर्वत्र है।

स्वातन्त्र्य का सर्वत्र उपयोग —इस पद्धति से निरख लो भैया! न तो निमित्तनैमित्तिक भाव चूकता है और न वस्तु की स्वतन्त्रता मिटती है। जो जीव यहां भी किसी से प्रेमभाव करके पराधीन होता है तो वह मनुष्य स्वयं को स्वाधीनता से पराधीन होता है। उस पराधीनता में पर आश्रय पड़ता है। न करो राग पराधीनता आ गयी। इस पराधीनता में किसी दूसरे ने अपना परिणमन, अपना गुण, अपना द्रव्य कुछ डाला हो, यह नहीं है, और यह पराधीन करने वाला पुरुष किसी परकी उपाधि पाये बिना पराधीन होता है, और तिस पर भी परकी परिणति लेकर पराधीन होता नहीं। खुद ही स्वार्थता से अपने आपकी ओर से आजादी है उसे कि तुम ऐसा विकल्प बनालो कि परके ही आधीन हो

जावो।

सत्वकी सवासिद्धता—वस्तु तो समस्त अपने स्वरूपमें अद्वैत रूप हैं, वे वे ही हैं, कैसे भी बनें, वे वे ही हैं। यह जोव अनादि काल से न कुछ जैसी दशाओं में भी रहा है, निगोद जैसी दशाओं में रहा है, वृक्ष खड़ा है, शाखायें हैं, छाल हैं, पत्ते हैं, ऐसा लगता है कि कुछ भी नहीं है ज्ञान, मोटे रूप से ऐसी भी कुछ तुच्छ दशाओं से यह जीव परिणम गया तिस पर भी जीव-जीव ही रहा, अन्य-अन्य ही रहा तब तो अज्ञान-तिमिर के क्लेश में भी विवश था, मगर आज कुछ झलकन भी ऐसी है कि लो यह मैं जीव हूं, और यह जीव भविष्य में कभी ज्ञानबल से कर्म और शरीर से मुक्त भी हो जाता है।

अद्वैतभासी ज्ञान में आत्मग्रहिता—तो जो सत् है वह अपने में अद्वैत अन्य सर्व वस्तुओं से विविक्त है, चाहे वह किसी भी वृत्ति से परिणम रहा हो। इस विशुद्ध चैतन्यस्वरूप में कोई भेद नहीं किया जा सकता। ऐसा अभेदस्वरूप चैतन्यमात्र मैं हूं। यहां उपयोग को ठिकाना इस ब्रह्म स्वरूप में, इस चित्प्रकाश में, जहां व्यक्ति की खबर नहीं, देह की खबर नहीं, वैभव की खबर नहीं, कर्मबंध का पर्दा नहीं। जिस उपयोग में केवल शुद्ध चैतन्यमात्र ही प्रतिभासित होता है वह उपयोग आत्मा के ग्रहण करने वाला होता है। इस उपयोग में ऐसी सामर्थ्य है कि उस चित्स्वरूप को ढकने वाले किन्हीं भी पर्दों में न अटककर सीधा चैतन्य स्वरूप पर पहुंच जाता है।

परिचयीके स्वरूप दर्शनमें अबाधा का एक दृष्टान्त - जैसे बाजार में कुछ कार्ड ऐसे आते हैं कि जिनमें पेड़ ही पेड़ बने हैं, मगर वे पेड़ ऐसे शकल के बनाए गए हैं कि वहां जहां पत्ता, साखा कुछ नहीं बने हैं, उन्हें ब्लैक बोलते हैं। उनमें सेर का चित्र, मोर का चित्र, गधे का चित्र बन जाता है। बना कुछ नहीं है किन्तु जो जगह छूटी हुई है पेड़ की रचना से उस जगह में भी चित्र मालूम देता है। ऐसे कार्ड बहुत बिकते हैं। किसी-किसी ने देखा भी होगा। उन कार्डों को देखकर अपरिचित आदमी को बताया जाय कि बताओ इस कार्ड में क्या है? तो वह यह कहेगा कि ये पेड़ हैं। और भी हैं कुछ? कुछ नहीं है, जब किसी उपाय से उसे बता दिया जाय देखो यों यह गधा हुआ ना गधा। अब उसे सीधा गधा दिखने लगा। अब उस कार्ड को लेता है तो उसका ज्ञान पेड़ में अटकता, न उसका ज्ञान पत्तियों में अटकता, उसका ज्ञान सीधा उस चित्र को जान लेता है।

दृष्टान्तपूर्वक निर्बाध आत्मदर्शन का समर्थन—अथवा जैसे हड्डी का

फोटो लेने वाला एक्सरा यंत्र होता है, वह न तो शरीरमें पहिने हुए कपड़ों का फोटो लेता है, न चमड़ेका फोटो लेता है, न मांस मज्जाका फोटो लेता है, केवल हड्डीका फोटो ले लेता है। वह एक्सरा यंत्र कहीं नहीं अटकता, इसी तरह जिस भेदविज्ञानी पुरुषके ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि है कि भेदविज्ञानके बलसे वह धन परिवारमें नहीं अटकता, शरीरमें नहीं अटकता, कर्मोंमें नहीं अटकता, रागादिक में नहीं अटकता, अपूर्ण विकासमें नहीं अटकता। औरोंकी तो बात जाने दो पूर्ण विकास परिणमनमें भी नहीं अटकता। अहा, इस भव्यदर्शनसे अन्य मुझे कुछ न चाहिए।

जाननका जाननके अतिरिक्त अन्य प्रयोजनका अभाव—जैसे घरके बड़े प्यारे कुँवरको किसी दूसरे के द्वारा दी गयी कुछ चीज न चाहिए। उसे तो कला चाहिए, ज्ञान चाहिए। इस ओर ही उसकी धुनि है। इसी प्रकार इस अन्तरात्मा पुरुषको केवलज्ञान भी न चाहिए, अनन्त सुख भी न चाहिए, पूर्ण विकास भी न चाहिए, उसकी तो सहजस्वभावपर दृष्टि हो गयी। किस लिए हो गयी? इसका भी उसे कुछ प्रयोजन नहीं है, पर जिस स्वरूप है, वस्तु जितनी है वह उसकी नजरमें आ गया सो वह तो जानता भर है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते—जैसे मोटे शब्दोंमें लोक व्यवहारमें यह अर्थ लगाते हैं कि हे आत्मन्! तुम किए जावो, करनेका तुम्हें अधिकार है, फलमें अधिकार नहीं। फल मत चाहो। यह बात जिस चाहे पदवीमें रहने वाले मनुष्यमें घटा लो। परोपकार करने वाले मनुष्यको भी यह कह लो कि तुम कर्तव्य किए जावो—फल मत चाहो। तुम्हारा फलमें अधिकार नहीं है, तुम्हारा काममें अधिकार है। अच्छा उस लोक-व्यवहार की चर्चा से और ऊपर आइए।

योगीकी अनीहा—जो योगी पुरुष है उसको कहा गया है कि तुम अपने जप, तप, व्रत, नियम, ध्यान संध्या सब किए जावो, फल कुछ न चाहो। फलमें तुम्हारा कुछ अधिकार नहीं है। उससे भी और ऊँचे चलकर एक ज्ञानी पुरुषमें पहुंचिये। तुम अन्तरमें विवेक किए जावो, भेदविज्ञान किए जावो, फल कुछ मत विचारो। इससे भी और ऊँचे उस अन्तरात्माको देखो कि कुछ विकल्प ही नहीं उठाना, केवल ध्रुव चित्स्वभावके देखने की ही जिसकी वृत्ति बनी हुई है वहां फलमें मेरा अधिकार नहीं, ऐसा भी विकल्प नहीं, मुझे कुछ कर्तव्य करना चाहिए यह भी तरङ्ग नहीं किन्तु जब साक्षात्कार हो गया, जब दृष्टिगत हो गया परमार्थ सत्त्व, तो वह बस देख लेना है कि काहे के लिए देखना है, यहां कुछ बात नहीं है। देकर भी कुछ करेगा यह भी बात नहीं है। वह द्रव्य कर्मसे भी युक्त

होना चाहे यह भी बात नहीं है, वह अपना पूर्ण विकास चाहता है यह भी बात नहीं है। उसको तो जो परमार्थ सत है वह ज्ञानमें आ गया, सो ज्ञान ही करता जाता है। ऐसे इस विशुद्ध चैतन्यमें किसी भी प्रकारका भेद नहीं है। चीज चलते-चलते बहुत अभेद तक पहुंच गयी।

परिचयीके लिये शब्दोंकी वाचकता – भैया! यह चर्चा अपनी है। पर अपनी बातका, अपनी अन्तर्विभूतिका परिचय जिनको बिल्कुल नहीं होता उनको तो ऐसा लग सकता है कि क्या कहा जा रहा है? कुछ रटा हुआ होगा वही बोला जा रहा है। कुछ भावकी बात तो नहीं मालूम होती है, परन्तु जिन्हें अपने अन्तर्वैभवका परिचय है, ऐसे चित् प्रकाशमात्र अनुभवकी जिन्हें झलक हुई है उनके लिए तो ये शब्द भी न कुछ चीज हैं। इन शब्दोंके द्वारा इतनी बड़ी बात कही जा रही है। इतनी बड़ी बात को बताने वाले कोई शब्द नहीं हैं, जिसको आप अपने अन्तरमें जान रहे हो।

शब्दों द्वारा भावानुभूतिका एक दृष्टान्त—मिश्रीका जिसने बहुत-बहुत स्वाद लिया उनके लिए इतना ही कह देना काफी है कि मिश्री बहुत मीठी होती है। इतना ही सुनकर उन्हें अनुभव हो जायेगा, गलेसे थोड़ा पानी भी उतर जायेगा, कुछ जीभ भी पनीली हो जायेगी और जिसने कभी मिश्रीका स्वाद नहीं लिया, उनके आगे खूब समझाइए, मिश्री बड़ी मीठी होती है, गन्नेसे भी ज्यादा मीठी क्योंकि गन्नेके रससे जब बहुत सा मैल निकल जाता है तो राब बनता है और उस राबसे भी जब बहुतसा मैल निकल जाता है तब जाकर शक्कर बनती है। जिसने मिश्री नहीं चखी वह पलक उठाये, आंखें फाड़े, पर उसे रंच भी मिश्री का स्वाद नहीं आता है। उसे कितना ही समझाया जाय कि गन्नेके रससे बहुत मैल निकल कर राब बनता है। उस राबसे बहुत सा मैल निकल कर शक्कर बनती है, उसमें से भी मैल निकाल दिया जाता है. तब जाकर उस शक्करसे मिश्री बनती है। इतनी चर्चा करने पर भी वह आंखें फाड़ेगा पर उसे मिश्रीका रंच भी स्वाद न आयेगा। जीभ पनीली न होगी, थूक गले से न उतरेगा।

अप्रतिबुद्धके प्रतिबोधका उपाय—इसी तरह आत्माके उस परमार्थ सहजस्वभावका जिन्हें परिचय होता है उनको एक ही बात कुछ कह दें बस उसने ज्ञायकस्वरूपको अपने उपयोगमें ले डाला। प्रकाश, चित्स्वभाव, सहजस्वभाव किन्हीं भी शब्दोंमें बोल लो—वह उस समय परमात्मतत्त्वको उपयोगमें लेता है किन्तु जिन्हें इसका परिचय नहीं है वे चित्रितसे देखते रहें, सुनते रहें, क्या बात हो रही है, क्या कहा जा रहा है, क्या ऐसे ही शास्त्र पढ़ा जाता है, क्या हो रहा है? उसकी दृष्टिमें न

उतरेगा। तब उनके प्रतिबोधके लिए यह सब व्यवहारका प्रसाद है। उन्हें गुणभेद बताया जायेगा, धर्मभेद बताया जायेगा, कारकभेद बताया जायेगा। अध्यात्म विद्याका क, ख भी सिखाया जायेगा। ये सब बातें चलती हैं।

प्रतिबुद्धका संकेत—भैया! व्यवहारभाषित उपदेशके इन सब उपायोंसे यथार्थ जानकारी होनेके पश्चात् उसके लिए संकेत ही काफी है। न भी शब्द बोले तो संकेत भी प्रतिबोधक है। कोई पुरुष अपने हाथसे शांतिकी मुद्राके साथ यदि अपनी छाती पर आत्मतत्त्व बतानेका संकेत करता है तो उस संकेतके देखने वाले इस ज्ञायकस्वरूप भगवानको समझ जाते हैं, शब्दकी बात तो दूर रही। तो जो प्रतिबुद्ध पुरुष हैं उनकी गोष्ठीकी यह कथा हो रही है कि यदि कारकभेदसे, धर्मभेदसे, गुणभेदसे भेद किया जावे वह भी उसीके प्रतिबोध का उपाय है। परन्तु इस विभुभावमें इस विशुद्ध चैतन्यमें कोई प्रकारका भेद नहीं है। यह अनादि है, अखंड है, द्रव्यसे अखण्ड है, क्षेत्रसे अखण्ड है, कालसे अखण्ड है, भावसे अखण्ड है।

अपने शरणका अवगम—आत्मतत्त्वको द्रव्यसे भी खण्डित नहीं किया जा सकता है वह तो जो है सो है, क्षेत्र, काल, भावसे भी खण्डन नहीं है। जानने वाले जानते हैं और जब तक यह जानने में नहीं आता तब तक अवधान नहीं रहता, सावधानी नहीं रहती। अपने को कहां बैठाना है, कहां लगाना है, कहां शरण मानना है, कहां तृप्ति पाना है? वह स्थान है यही विशुद्ध चित्स्वरूप। इसकी निरन्तर आराधनासे समस्त बंधन अवश्य कट जाते हैं।

साधारणज्ञान, पर्यायज्ञान, स्वरूपज्ञान व भेदविज्ञान—पहिले नाना प्रकार के ज्ञान से एक साधारण ज्ञान करना आवश्यक है, पश्चात् पर्याय भेदकी मुख्यता से यह संसारी है, यह मुक्त है, यह जीवसमास है। यह गुणस्थान है, आदिका ज्ञान करना चाहिए। फिर वस्तुके स्वरूपका द्रव्य, गुण, पर्यायकी शैली से ज्ञान करना चाहिए। वस्तु स्वरूप के अवबोध के अभ्यासके पश्चात् फिर भेदविज्ञान जागृत होता है, उस भेदविज्ञान के बलसे अपने आपमें अपने स्वरूप को जानकर समस्त पर और परभावों से भिन्न जानना चाहिए। ये जो धन वैभव जड़ और समानजातीय पर्यायें हैं उनसे इस आत्मा का रंच भी सम्बन्ध नहीं है।

कल्पनाका ऊधम—भैया! कल्पनाका ऊधम तो एक विचित्र ऊधम है। जिस चाहे अत्यन्त भिन्न चीजको कल्पनासे अपना समझ लेते कि यह मेरा है, इसको पागलपन कहलो या ऊधम कहलो, चोर-चोर मौसेरे भाई हुआ करते हैं, इसी तरह मोही मोही जीवों की परस्परमें

दोस्ती बन गयी है, इसलिए एक दूसरे के पागलपनकी बातको पागलपनकी दृष्टिसे नहीं देखते हैं इसको तो ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं कि क्या व्यर्थका पागलपन और ऊधम मचा रखा है कि जिसे चाहे भिन्न वस्तुको जिस चाहे मन चाहे उसको ही अपना मानता है।

उत्तरोत्तर प्रखर भेदविज्ञान—इस धन वैभव जड़ पदार्थसे मेरा आत्मा अत्यन्त भिन्न है, इसे और भी भेदविज्ञानसे देखो कि अन्यकी तो कहानी ही क्या ? यह शरीर जो मेरे एकक्षेत्रावगाह में है, इस शरीरसे भी मैं जुदा हूं। यह अचेतन है, और शरीर के नाते तो समानजातीय द्रव्य पर्याय है और भवके नातेसे असमानजातीय द्रव्य पर्याय है। मैं तो भौतिक पदार्थके लेपसे रहित हूं, फिर और भेदविज्ञान किया तो जाना कि शरीर तो एक जिन्दगी का साथी है किन्तु द्रव्य कर्म यह एक जीवन का साथी नहीं, किन्तु अनेक जीवन में यह साथ चला करता है। सो चिरकाल तक साथ निभाने वाला द्रव्य कर्मपिंड भी चूकता अचेतन है। उससे भी भिन्न यह मैं चैतन्य पदार्थ हूं। फिर भेदविज्ञानसे और आगे बढ़कर देखा कि रागादिक भाव को यद्यपि उस काल में मेरा ही परिणमन है परोपाधिका निमित्त पाकर ही रागादिक रूप परिणमन होता है तिस पर भी ये रागादिक परिणमन मैं नहीं हूं। मैं इन सबसे भिन्न शुद्ध चित्प्रकाश हूं।

अपूर्ण और पूर्ण विकास से भी विविक्तता—भैया, कुछ और गहराई में चलें तो इस शुद्ध चैतन्यका, ज्ञानदर्शन गुणका वर्तमानमें जो कुछ अल्प विकास चल रहा है, जिससे कुछ जानकारी भी हो रही है। कुछ शांति, तृप्ति, आनन्द भी कदाचित् होता है ये सब परिणमन भी मैं नहीं हूं। यह अधूरा परिणमन है। मैं तो चित्प्रकाश मात्र हूं। अब आगे की बात भी देखिये। यह अपने स्वभावको देखनेसे यह निर्णय कर चुका कि निकट भविष्य में मेरे पूर्ण विकासरूप परिणमन होगा। किन्तु वह पूर्ण विकास रूप परिणमन भी मैं नहीं हूं, वह भी कभी होता है और वह सूक्ष्म रूपसे क्षण-क्षण में बदलता रहता है, सदृश-सदृश परिणमता रहता है, वह भी मैं नहीं हूं। ऐसे भेदविज्ञान के अभ्यास से उन सब अधूरे तत्त्वोंको छोड़कर न पूर्ण विकाससे भी परे एक उस ध्रुव आत्माको ग्रहण करता हूं।

यहां सामान्य रूप से इस ज्ञानीने आत्माको किस प्रकार ग्रहण किया, इसका वर्णन चला था। अब विशेष रूप से यह आत्मा को किस प्रकार ग्रहण करते हैं या विशेष रूप से किस प्रकार ग्रहण किया, ग्रहण किया जाना चाहिए। इस जिज्ञासा के समाधान में श्री कुन्दकुन्दाचार्य

अब अगली गाथा बोलते हैं।

पण्णाए घेत्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९८॥

प्रज्ञा द्वारा आत्माका विशेष पद्धतिसे ग्रहणका उपक्रम—जैसे प्रज्ञाके बलसे उसने निज तत्त्व में और परतत्त्व में भेद किया था, वैसे ही प्रज्ञाके बलसे परतत्त्वको छोड़कर निज तत्त्वको सामान्य रूपसे ग्रहण किया था, उस ही प्रकार प्रज्ञाके बलसे अब उसका विशेष प्रकारसे ग्रहण किस प्रकार होता है ? इसका वर्णन इस गाथामें है। पहिले तो यह जाना था, यह समझा था कि मैं चेतता हूं, और इस चेतने वालेको ही चेतता रहता हूं। जैसा षट्कारक रूपमें इसका वर्णन है। चेतना एक सामान्य तत्त्व है, इसलिए चेतनाके सम्बन्ध में जो वर्णन हुआ वह सामान्य रूपसे आत्माका ग्रहण रूप वर्णन है। अब उस चेतना का विशेष वर्णन करते हैं। चेतनाके विशेष हैं दो–दर्शन और ज्ञान। जब सामान्यसे उठकर विशेषकी ओर आता है तो उन विशेषोंमें तारतम्यरूपसे जो कर्म हों उसको पहिले कह जाना चाहिए। चेतनाके विशेष दो हैं–दर्शन और ज्ञान, किन्तु इन दोनों में भी सामान्य कौन है ? दर्शन। इसलिए इसके बाद दर्शनकी बात कही जा रही है।

आत्माका द्रष्टारूपमें ग्रहणका उद्यम—प्रज्ञाके द्वारा ऐसा ग्रहण करना चाहिए कि जो द्रष्टा है वही मैं निश्चयसे हूं, इसके अतिरिक्त समस्त भाव मुझसे पर हैं, इस तरह प्रतिभासना, द्रष्टा होना ज्ञाता होनेकी अपेक्षा सामान्य परिणमन है, और वह निर्विकल्प परिणमन है। जैसे दर्पणको हमने देखा—जिस दर्पणमें कई पुरुषोंकी बच्चोंकी छाया पड़ रही है, प्रतिबिम्ब हो रहा है। हम उस समय केवल दर्पणको ही देख रहे हैं, पर दर्पणको देखते हुए हम दर्पणमें बहिर्मुख सम्बन्धी ज्ञान करते हैं, यह इस लड़केका चित्र है तो वह है ज्ञानका दृष्टान्त। और उस छायारूप परिणत दर्पणमें जिसकी छाया है ऐसी अपेक्षा न करके, ऐसा ज्ञान न बना करके जैसा परिणत वह दर्पण है उस प्रकार ही हम देख रहे हों तो वह दर्शनका दृष्टांत है।

आत्माको ज्ञाता व द्रष्टारूपमें देखनेकी दृष्टि—हमारी आत्मामें स्वपर प्रकाशकत्व है। हम परपदार्थोंके सम्बन्धमें भी जानकारी रखते हैं, प्रतिभास करते हैं, और स्वयंका भी हमें कुछ निर्णय स्पर्श प्रत्यय बना रहता है। इन दोनों बातों में से जब हम ज्ञेयाकार परिणमनकी मुख्यता करके अपने स्वरूप से बहिर्मुखी वृत्ति बनाकर जब हम प्रतिभासा करते हैं तब तो है हमारा वह ज्ञातारूप, हां, इस ज्ञातारूपके मर्म में रागद्वेषका विकल्प न होना चाहिए। रागद्वेष की पकड़से तो रहित हों किन्तु जाननकी

पकड़से सहित हों तो वह है ज्ञाता रूप, और जैसा कुछ हम अपने में परिणम रहे हैं उस रूप से परिणत अपने आत्माको एक झलकमें करना, उसको स्पर्श करना, यह है द्रष्टा का रूप।

करना आतम काम था करन लगे कछ और—भैया ! यह ज्ञानी पुरुष अपने आपको द्रष्टा रूपमें आ रहा है। कितना काम पड़ा है करनेको अन्तरमें, इस प्रकरणको जानना। ये घर के झंझट, ये व्यवस्थाएँ, प्रबंध, हिसाब, लोगोंके ख्याल, ये सब मायारूप हैं जिसमें पड़े हो। पड़े बिना गुजारा भी नहीं चलता और पड़ना रंच भी न चाहिए। इस ज्ञानी गृहस्थ की ऐसी बड़ी मिश्र दशा है कि कभी वह अपनी इस काली करतूत पर दुःखी होता है, इसको काली ही करतूत कहना चाहिए जो उस अपने स्वरूपसे चिगकर जहां लेनदेन नहीं, जहां कुछ सम्बन्ध नहीं, बात नहीं, हम ही खाली दीवालें बनाकर कल्पना करके अपने आपको एक कायर की भांति नपुंसकसे होकर अपने आपमें अपना कालापन बना रहे हैं, मलीनता बना रहे हैं। यह करतूत हमारी काली है, स्वच्छ नहीं है, हितरूप नहीं है।

सत्य ज्ञानका प्रवेश होनेपर ही त्रुटिपर खेद सम्भव—सो भैया ! किसी इस ज्ञानी पुरुषको अपनी इस बहिर्मुखी वृत्तिपर खेद पहुंचता है, और यह खेद तभी पहुंचता है जब इस खेद करने वालेने अपने अन्तरमें अपने स्वभाव और गुणके अनुभवन का अनुपम आनन्द पाया हो, हरएक कोई बहिर्मुखी प्रवृत्ति पर खेद नहीं कर सकता है। त्रुटिपर खेद वही कर सकता है जिसने सत्य आनन्द लूटा हो। कोई किसी बड़े आदमीकी पंगत में भोजन करने जाय तो ऐसी आशा रखकर कि बड़ेकी पंगत है, वहां पर अनेक प्रकारके नवीन मिष्ट भोजन मिलेंगे और वहां जाने पर मिले उसे केवल चनेकी दाल और रोटी तो वह वहां कितना खेद करेगा, जो इस आशाको लेकर खानेको गया हो। अरे कहां फंद में आ गए। इससे तो घर ही रहते तो चार रुपये की कमाई भी कर लेते और यह खा भी लेते। तो उसे मालूम है उन मिठाइयों का स्वाद जिनको वह अपने भीतरमें ध्यान में रख रहा है। जब उसे नीरस वस्तुका खेद हो रहा है, इसी तरह आत्माके चैतन्यस्वरूपका, अनुपम स्वरूपका जिसने अनुभव किया है, जिससे बढ़कर आनन्दमय स्थिति और कुछ हो ही नहीं सकती है, ऐसे अनुपम स्वाधीन सहज आनन्दके अनुभवमें लगने वाला ज्ञानी गृहस्थ अपने इस बाह्यविषयक कल्पनाकी काली करतूत जानता है व श्रद्धा सही रखता है ये समस्त पर व परभाव मेरे नहीं हैं, ये मेरे स्वरूपसे भिन्न हैं।

आत्माकी दृशिज्ञप्ति रूपता—यह अध्यात्मयोगी अपने दर्शन गुण

द्वारा अपने आपको कैसे ग्रहण कर रहा है, चेतन सामान्यसे उठकर यह विशेषमें आया है। चूंकि चेतना सामान्य चैतन्यात्मक है। कोईसा भी तत्त्व, कोईसा भी पदार्थ न केवल सामान्यरूप है और न केवल विशेष रूप है। यदि चेतना सामान्यविशेषात्मकताका त्याग करदे तो इसका अर्थ यह हुआ कि चेतना ही नहीं रही। चेतना नहीं रही तो यह आत्मा जड़ हो गया। जड़ क्या हो गया? आत्मा ही नहीं रहा। तो चेतना है दर्शनज्ञानात्मक। दर्शन ज्ञानका उल्लंघन करके चेतना अपना अस्तित्व नहीं रख सकता। इसलिए चेतनामें द्रष्टापन और ज्ञातापन पड़ा हुआ है, और यह आत्माका स्वलक्षण है। आत्मा द्रष्टा भी है और ज्ञाता भी है।

व्यावहारिक व आध्यात्मिकताकी गतिविधि—भैया! दर्शन और ज्ञानमें किसका नाम पहिले लेना? किसका नाम बादमें लेना? सो जहां व्यावहारिकताका सम्बन्ध है वहां ज्ञान को पहिले बोलना, दर्शनको बादमें बोलना, और जहां आध्यात्मिकता का सम्बन्ध है वहां दर्शनको पहिले बोलना और ज्ञानको बादमें बोलना। जैसे प्रभु अरहंत भी हैं और सिद्ध भी हैं। इनमें पहिले किसका स्मरण होगा, बादमें किसका स्मरण होगा? व्यावहारिकताकी भक्तिमें पहिले अरहंतका स्मरण करना और फिर सिद्धका स्मरण करना। क्योंकि जो सिद्ध है उसका ज्ञान अरहंत की कृपा से हमें मिला है। इस प्रकार आत्मामें दर्शन है यह भी हमें ज्ञानकी कृपासे मिला है, व्यावहारिकता में ज्ञानको पहिले कहना, दर्शनको बादमें कहना, किन्तु परमतत्त्व की भक्तिके प्रसंगमें सिद्धका स्मरण पहिले होता है और फिर सिद्ध स्मरणमें कुछ थकान आने पर अरहंतका स्मरण होता है। इसी तरह आध्यात्मिकताके योगमें प्रथम दर्शन का प्रतिभास होता है और दर्शनके प्रतिभास में थकान आ जाने पर संस्कारवश न टिकने पर फिर ज्ञानकी खबर तो लेना ही पड़ता है। तो इस रीतिसे इस प्रकरणमें दर्शन और ज्ञानमें से प्रथम दर्शन की बात कही जा रही है।

दर्शनवृत्ति द्वारा आत्मग्रहण—मैं इस द्रष्टा आत्मको ग्रहण करता हूं। ग्रहण करना किसे? कोई पिंड रूप तो यह आत्मा है नहीं। जो हस्तपादादिक अंगसे या किसी इन्द्रियके द्वारा ग्रहण कर लिया जाय, सो ग्रहण करना भी क्या है जो मैं ग्रहण करता हूं वह मात्र देखता हूं। अपने आपके द्रष्टा को देखने मात्रका नाम ग्रहण करना कहा है। हाथसे ग्रहण करना तो और तरह होता है और आत्माके द्वारा आत्माको ग्रहण करना जानन देखन की पद्धतिसे होता है। देख लेना इसीके मायने हैं ग्रहण कर लेना। मैं देखता ही हूं। यही मेरा पूर्ण ग्रहण है। मैं स्वयं देखता हुआ ही देखता हूं। केवल देखते हुए ही देखता हूं।

दर्शनवृत्तिकी इन्द्रियानपेक्षता—यहां जो 'देखना' शब्द हिन्दीका बोला

जा रहा है उसका अर्थ आंखों से देखा जाना नहीं लगाना क्योंकि हम आंखों से देखा नहीं करते। लोकव्यवहार में बोलते हैं। आंखों से देखना बताना झूठ है क्योंकि आंखें हैं इन्द्रियां इन्द्रियोंके द्वारा सामान्य प्रतिभास कभी नहीं होता। विशेष प्रतिभास हुआ करता है। और विशेष प्रतिभास का नाम दर्शन नहीं है, ज्ञान है। जैसे हम कानों से कुछ जाना करते हैं, रसनासे कुछ जाना करते हैं, नासिकासे कुछ जाना करते हैं, इसी तरह आंखोंसे भी हम जाना करते हैं। देखा नहीं करते हैं किन्तु लोक में आंखों द्वारा जानने देखने की प्रसिद्धी हो गयी है। सो ऐसा सुनने में कुछ अटपटसा लगता होगा। हम आंखों से कुछ भी नहीं देखते हैं, जाना करते हैं, काला, पीला, नीला, हरा, सफेद आदि रूप का जो जानन है व श्रुतज्ञान है। काला को ही जानना, पर काला कहकर नहीं जानना सो आंखों के द्वारा जानना कहलाता है।

नेत्रेन्द्रिय द्वारा भी दर्शनवृत्तिकी असंभवता—यह सुनकर आपको ऐसा लग रहा होगा कि इतना भी नियन्त्रण किया कि काला को काला न जानना, सफेद को सफेद रूपसे न जानना, अन्यथा यह श्रुत ज्ञान है, सविकल्प ज्ञान है। जान लिया और काला, सफेद यह चित्तमें विकल्प न करना, यह तो बहुत सामान्यसा ज्ञान बन गया, सामान्य प्रतिभास हो गया। अभी सामान्य प्रतिभास नहीं हुआ। आप अन्दाज करलो कि आंखके द्वारा जो हमने जाना, काला पीला कहकर नहीं, विकल्प उठाकर नहीं, जाना वैसा ही, पर विकल्प उठाकर नहीं। उस जानन से भी अत्यन्त सूक्ष्म सामान्य प्रतिभास होता है, उसे कहते हैं दर्शन। जो आंखकी करतूतसे बहुत भीतर की बात है।

दर्शन द्वारा ज्ञानबलग्रहण—अपने आपमें देखता हूं, इस देखते हुएको देख रहा हूं, ऐसा देखना सब जीवोंके हो रहा है पर उस देखने के कामका विश्वास नहीं हो पाता इसलिए सम्यक्त्वके उन्मुख नहीं हो पाता। यह जीव जैसे कोई पुरुष जम्पिङ्ग करे, कूदे ४-५ फिट, दो डंडोंमें डोर लगा दी, दोनों डंडोंको दो बच्चोंको पकड़ा दिया, कूदने का कार्यक्रम रखा। दसों विद्यार्थी कूदनेके प्रसंगमें हैं। कोई चार फिट कूद लेता है कोई ५ फिट कूद लेता है। वे कूदते हैं, उनके कूदने की विधि तो जरा देखिए। उचक कर कूदते हैं तो बल जमीन पर बहुत तेज देकर कूदते हैं। अरे उचकने में उन्हें ऊँचा ही तो उठना है, पर ऊँचा उठने से पहिले जमीन में नीचे बल क्यों देते हो? पर कोई करे ऐसा कि जमीन पर नीचे तेज बल दिए बिना ऊँचा कूदकर दिखाए। पक्षी भी तो उड़ते समय जमीन पर बल देते हैं। इसी प्रकार हम आपके बाह्य पदार्थों की ओर जानने की कूद करके ऊँचे उठते हैं। उस समय हम अपने आपमें उस कूदका बल पाने

के लिए अपनी ओर झुक करके कूदा करते हैं। पर ऐसा झुकना सबको मालूम नहीं है। झुककर ही तो कूदते हैं। पर झुकने का ग्रहण नहीं है।

ज्ञानवृत्ति में दर्शनवृत्तिका अपूर्व सहयोग—एक पदार्थ को जानने के पश्चात् दूसरे पदार्थको जब हम जानते हैं अर्थात् पहिले पदार्थकी जगहसे उठकर दूसरे पदार्थ पर अपन उठा करते हैं उस समय हम अपने आपकी ओर झुका करते हैं। उस ही का नाम दर्शन है और उस दर्शनकी वृत्ति से हमें ज्ञानके लिए बल मिलता है। उस दर्शनकी बात यहां की जा रही है।

दर्शनवृत्तिकी अभिन्नषट्कारकता—मैं देखते हुएको देखता हूं, दर्शनकी स्थितिमें देखते हुएको देखता हूं, यह नहीं अनुभव रहे वे। यह तो ज्ञानी कह रहा है, तीसरा पुरुष कह रहा है, दूसरा पुरुष कह रहा है, जो दर्शन में परिणत हो वह द्रष्टा को देख रहा है, मैं देखते हुएको देख रहा हूं। इस जाननकी क्रिया में जो कुछ है वह मैं ही हूं। मैं देखते हुएके द्वारा देख रहा हूं। देखते हुए के लिए ही देख रहा हूं। कहांसे ? इस देखते हुएसे देख रहा हूं। किसमें ? इस देखते हुएमें देख रहा हूं। ऐसे मात्र दर्शन सामान्य रूप परिणमनको आत्माका ग्रहण कहते हैं।

अभेद वस्तुमें कारकभेदकी जबर्दस्ती—यह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा इस समय प्रज्ञा द्वारा दर्शन गुणके परिणमन रूपमें अपनेको ग्रहण कर रहा है। वहां वह इस प्रकार परिणम रहा है, ज्ञानी पुरुष की भाषा में उसकी वृत्तियां हो रही हैं कि मैं देखता हुआ उस देखते हुएको देखते हुएके द्वारा देख रहे के लिए देखते हुएसे देख रहे में देख रहा हूं। पर यहां तो वह एक ही है और उसकी वृत्ति एक है। वहां हमारे कारक के प्रयोगका कोई अर्थ नहीं है।

अभेद वस्तुमें कारकभेद किए जानेका एक उदाहरण—जैसे कोई कहे कि यह कलई या चूना सफेद हो रहा है और सफेद हो रहा यह चूना सफेद हो रहे अपने को सफेद हो रहे के द्वारा, सफेद हो रहे के लिए सफेद हो रहे से सफेद हो रहेमें सफेद करता है। बात तो यथार्थ है पर सुनने में यों लगता कि यह सब बकवास है। अरे वह है और सफेद है। इतनी तो बात है और उसको घुमाव फेरसे क्या कहा जा रहा है, कुछ भी नहीं कहा जा रहा है। अतः हम तो यह जानते हैं कि यह सफेद है। बस न यह सफेद को सफेद कर रहा है, न सफेद के द्वारा कर रहा है, न सफेद के लिए कर रहा है, न सफेद को कर रहा है। हमें तो स्थिरतामें यह नजर आता कि यह सफेद है। और हो ही क्या रहा बवाल ? कुछ भी नहीं।

अभिन्न षट्कारकतासे एक मात्र भावना समर्थन—इसी प्रकार इस

दर्शन द्वारा आत्माके ग्रहणमें यहां कुछ नहीं हो रहा। न मैं देख रहा हूं, न देखते हुएको देख रहा हूं, न देखते हुएके द्वारा देख रहा हूं, न देखते हुए की ओर देख रहा हूं, न देखते हुएसे देख रहा हूं, न देखते हुए को देख रहा हूं किन्तु सर्व विशुद्ध दृशि मात्र भाव, दर्शन भावमात्र सत् हूं। इस प्रकार चेतना सामान्यकी क्रियासे आत्माके ग्रहण की बात बताकर, इस चेतनके विशेषोंमें दर्शन गुणके द्वारा आत्माके ग्रहणकी बात बताकर अब ज्ञानगुण द्वारा आत्मामें ग्रहणकी बात कहते हैं।

आत्माकी ज्ञानप्रधानता—आत्मामें ज्ञान एक प्रधान गुण है। ज्ञानसे ही सारी व्यवस्था है, ज्ञानसे ही सब गुणोंका अनुभव है, ज्ञान द्वारा ही हम सुखोंको भोगते हैं। यदि आत्मामें सब गुण रह जायें, एक ज्ञान गुण न हो तो वहां वे सब बेकार हैं, कुछ बात भी न बनेगी। ज्ञान न हो और हम सुखका अनुभव करें यह कैसे कर सकते हैं?

आत्मवृत्तियोंकी ज्ञानग्राहिता—बचपनकी एक घटना है—कोई ६॥ वर्षका होऊँगा, तो उस समय देहातमें स्कूल न थे। एक पटवारी हमें पढ़ाता था, १२ आने महीना देते थे, सभी लड़के देते थे, जिससे मास्टर साहबका काम चल जाय। १५ दिनमें एक दिन सीधा देते थे, यह रिवाज था और पढ़नेका रिवाज था कि पढ़ते जावो। यह पुस्तक खत्म करली तो अब दूसरी पुस्तक ले ली। दूसरी पुस्तक खत्म हो गयी तो तीसरी ले ली। वहां समयकी कैद नहीं थी कि यह पुस्तक साल भरमें पढ़ना है, पढ़ने वाला दो महीनेमें पढ़ ले। तो उस समय बड़ी विशुद्ध पढ़ाईका रिवाज था। एक दिन पाठशालामें कुछ लड़के पिटे, लड़कोंको पिटता हुआ देखकर दूसरे दिन हमें भय लगा कि कहीं हमारे पिटनेकी नौबत न आए। सो उस दिन मैं पढ़ने न गया। तो उस समयका रिवाज था कि जो बच्चा पढ़ने न आए उसको लेनेके लिए एक दो बच्चे भेजे जाते थे और अगर वह शरीरसे वजनदार है तो चार बच्चे भेजे जाते थे। एक टांग पकड़े और एक हाथ पकड़े, पकड़कर ले चले यह पद्धति थी बच्चोंको ले जाने की। अब हम न गये उस दिन, तो आ गए दो दून। फिर भी हम न जायें, तो सुबहके समय परांठा और मक्खनका भोजन था, उसे बोलते हैं देहाती नाश्ता। नाश्ता करनेमें स्कूलकी इनक्वारी करने पर मां ने मेरे मार दिया तो मैं रोता-रोता सोच रहा था कि यह काठका खम्भा जो आंगनमें खड़ा है, जिसके सहारे मट्ठा की मथानी फिरायी जाती है कि यदि मैं यह खम्भा होता तो आज पिटनेकी नौबत न आती. हम जो हुए सो बुरे हुए। इससे तो मैं यदि खम्भा होता तो अच्छा था। पिटता तो नहीं।

चेतनाकी विशेषता—ठीक है भैया! नहीं पिटते अचेतन, परमें

आनन्दका अनुभव तो नहीं है—जैसे हैं तैसे हैं। दुःखके साथ सुख है, टोटेके साथ लाभ है—तो क्लेशके साथ आनन्द है। एक दृष्टान्तमें लगता तो ऐसा है कि हम यदि परमाणु सत् होते तो अच्छा था। काहे को चेतन सत् हुए ? अरे यदि मैं परमाणु सत होता तो ज्यादासे ज्यादा कोई लोग मुझे जला डालते, चौकी आदि स्कंध मैं होता तो लोग जला देते। जला दो—जला देने पर भी इस अचेतनका क्या बिगड़ा ? बिगाड़ तो है अपने इस चेतन तत्त्वका, लेकिन यह बिगाड़ कायरताकी बात है।

विश्वमें प्रज्ञाका महत्त्व—विश्वमें सर्वोत्कृष्ट पदार्थ चेतन है, जिसका बड़ा ऊँचा प्रताप है, जो अपने ज्ञान द्वारा सारे विश्वको अपने एक कोने में डाल लेता है। जिसमें समस्त विश्व जाना जाता है, उससे उत्कृष्ट चीज किसको बताया जाय। ऐसा यह ज्ञान गुण वाला आत्मा जब तक प्रज्ञा भगवती की प्रसन्नता नहीं पाता है तब तक संसारमें जन्म मरणके चक्र लगाता रहता है। इस भगवती प्रज्ञाका ही नाम— दुर्गा, सरस्वती, चंडी आदि देवी देवतावोंके नाम हैं। ये सब कोई अलगसे ऐसे नहीं हैं, लक्ष्मी आदि समस्त देवियां कोई अलगसे ऐसी नहीं बैठी हैं जैसी लोगों ने चित्रों में ढाल दी हैं। किसीको हाथी माला पहिना रहे हैं, किसीके पास हंस बैठा है, कोई गरुड़पर सवार है, कोई मुण्डमाला पहिने है, कोई जीभ निकाले है ऐसी देवियां कहीं बाहर नहीं हैं।

कल्पनाकी असद्रूपता—भैया ! कल्पनाके लिए तो किसी भींतके बड़े धब्बे पर यह ध्यान लगा लो कि यह हौवा आया। हौवाका ख्याल कर लिया तो वह हौवा उसके लिए बन जाता है, डरावना भूत बन जाता है। अंधेरी रात्रिमें जिसके घरमें कोई गुजर गया हो और उस गुजरे हुएको अपने मनमें चित्रण करें तो ऐसा लगता है कि अरे यह भूत बन कर आ गया। तो आ गया भूत। कल्पनाकी बातें तो सारी बेढंगी चलती हैं।

कल्पनासे विडम्बनायें—भैया ! भूत प्रेत वगैरह जो लोगों को लग जाते बताते हैं उनमें ९७ प्रतिशत तो सब या तो भ्रमकी बात हैं या जान बूझकर बुद्धिमानीकी बात है। भ्रमकी बात तो यों है कि कल्पना में बैठाया है कि लो मुझे तो लग गया कुछ बस उसके लग गया। जैसे किसी ने अपनी जिन्दगीमें सुन रखा हो कि ईश्वर एक दो यमराजोंको भेजता है इस देहसे जीवको निकालने के लिए—तब यह मरता है तो मरते समय उसे यों ही दिखता है कि वह यमराज तलवार लिए है—सो वह डरता है, चिल्लाता है। सो इस तरह तो बहुत सी भ्रमकी बातें है, वहां है कुछ

नहीं। और बहुत सी चतुरायी की बातें हैं। जिस घरमें दो तीन स्त्री हों अब किसी एक स्त्रीका चला नहीं चलता ज्यादा तो भूत प्रेतका ढोंग बना लेती है। बाल भी बिखरे हुए हों, धोती फटकार कर तनिक घमघमाकर आ जाय, कोई रूपक बना ले--लो आ गया भूत, बस वे एक दो स्त्रियां उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो जायेंगी। अब नहीं बस चलता है कोई मानता नहीं हमारी, तो इसी विधिसे मनाना है। सो कुछ यों लग बैठा है।

भगवान आत्मा और भगवती प्रज्ञा--सो कल्पनासे यह जीव देवी देवतावोंको कुछ न कुछ रूपमें मान लेता है किन्तु वे सब इस भगवती प्रज्ञाके रूप हैं। भगवती मायने इस भगवान आत्माकी शुद्धपरिणति। कहीं मास्टर मास्टरनीकी तरह, बाबू बबुआनीकी तरह भगवान और भगवती नहीं होते। भगवान तो एक शुद्ध ज्ञानका नाम है और शुद्ध ज्ञानकी जो वृत्ति जगती है उसका नाम है भगवती। लोग कहते हैं कि भगवानकी भगवती आधे अंगमें है। शिवका आधा अङ्ग तो पुरुष है और भगवती स्त्री आधे अंगमें है और चित्र भी ऐसा बना लेते हैं कि दाहिना अंग तो पुरुषका जैसा जानों। पुरुष जैसा एक पैर, पुरुष जैसा आधा पेट, वक्षस्थल और आधे अंगमें एक टांग स्त्री जैसी, आधा पेट, वक्षस्थल आदि स्त्री जैसी। अर्द्धांगकी कल्पना है। अरे भगवानकी परिणति भगवती अर्धाङ्गमें नहीं रहती है किन्तु सर्वाङ्गमें रहती है। जितनेमें भगवान है, उन सब प्रदेशोंमें यह प्रज्ञा भगवती है।

भगवती दुर्गा--इस भगवतीका नाम दुर्गा क्यों पड़ा--दुःखेन गम्यते, प्राप्यते वा सा दुर्गा। जो बड़ी कठिनतासे मिल पाये उसका नाम दुर्गा है। मालूम है—धन, कन, कंचन सभी सुलभ हैं पर कठिनतासे मिल सकने वाली यह भगवती प्रज्ञा है। यही सत्य दुर्गा है। इसकी प्रसन्नता प्राप्त करें। प्रसन्नताके मायने मुस्करा दें सो नहीं, हाथ उठा दें सो नहीं किन्तु प्रसन्नताका अर्थ है निर्मलता। प्रसन्नताका सही अर्थ है निर्मलता। प्र उपसर्ग है, सद् धातु है, क्त प्रत्यय लगा है फिर तद्धितका ता प्रत्यय लगा सो प्रसन्नता बन गया। जिसका अर्थ है निर्मलता।

प्रसन्नताका भाव--यदि कोई आपसे पूछता है कि क्यों भैया! आप प्रसन्न हैं ना, तो उसने क्या पूछा कि आप निर्मल हैं ना? पर उत्तर क्या देता है वह कि हां मैं खूब प्रसन्न हूं, घरमें चार पुत्र हैं, चार बहुवें हैं, इतने पोते हैं, खूब मौज है, खूब प्रसन्न हूं। प्रश्न क्या किया कि तुम मोहरहित हो या नहीं। उत्तर उलटा दिया उसने। पूछा कुछ, बोला कुछ यह बहिरोंकी बात है। पूछने वाला भी बहिरा, उसने भी सुन लिया ठीक

है। जो कहता होगा सो ठीक है और यह सुनने वाला भी बहिरा है। इसने अपने मन माफिक जाना कि इसने यह ही पूछा होगा। शब्दोंका अर्थ न जानने वाले बहिरोंकी ये बातें हैं। उसने पूछा कि तुम प्रसन्न हो? उसने कहा हां खूब मौज है खानेका, पीनेका, लड़कोंका पोतोंका।

बहिरोंका वार्तालाप—एक छोटा सा कथानक है कि एक किसान बाजारसे भुट्टा खरीदकर ले गया। लिये जा रहा था। रास्तेमें एक खेत जोतने वाले बहिरे किसानने उससे पूछा। वह किसान भी बहिरा और भुट्टा लिये जाने वाला भी बहिरा। सो किसान कहता है कि भैया राम राम। उसने जाना कि यह पूछता है कि क्या लिए जा रहे हो तो उसने उत्तर दिया कि भुट्टा लिए जा रहे हैं। फिर उस किसानने पूछा कि घर बारके बाल बच्चे अच्छे हैं ना? उसने यह जाना कि यह पूछता है कि इनका क्या करोगे? सो कहता है कि सारोंको भून कर खायेंगे याने भुट्टोंको भून कर खायेंगे तो देखो पूछता तो कुछ है और उत्तर कुछ देता है। तो यह तो बहिरोंकी बात है। प्रत्येक जीव प्रत्येक संकेतका, प्रत्येक शब्दका अपने मन माफिक अर्थ लगाकर तोष उत्पन्न किया करता हैं।

भगवती सरस्वती—भगवती प्रज्ञाके ये सब नाम हैं दुर्गा, सरस्वती आदि। सरस्वतीका अर्थ है—सरः प्रसरणं यस्या सा सरस्वती। जिसका फैलाव हो उसको सरस्वती कहते हैं। सबसे अधिक फैलाव किसका है? ज्ञानका। देखो—मोटी चीज बड़ी होती है कि पतली चीज बड़ी है। क्या आप इसे बता सकेंगे? दुनिया मानती है कि मोटी चीज बड़ी होती है। अभी कोई मोटी बुवा आ जाय तो बड़ी जगह घेरेगी, तो वह बड़ी हुई। पतली चीज पतली रहती है, पर बात उल्टी है। मोटी चीज हल्की होती है और पतली चीज बड़ी होती है। कैसे? अच्छा देखो।

स्थूलसे सूक्ष्मकी विशालता—पृथ्वी मोटी चीज है या पानी मोटी चीज है? पृथ्वी मोटी चीज है और पानी पृथ्वीसे पतली चीज है। तो पृथ्वी का विस्तार बड़ा है कि पानीका विस्तार बड़ा है? आजकलके भूगोलके विद्वानोंसे पूछ लो तो वे भी बतायेंगे कि पृथ्वीका हिस्सा छोटा है और पानी का हिस्सा बड़ा है। पृथ्वीके चारों ओर पानी है। चाहे जैनसिद्धान्त के वेत्ताओंसे पूछो। जम्बू द्वीप एक लाख योजनका है और उसको घेरता हुआ समुद्र दो लाख योजन एक तरफ और दो लाख योजन एक तरफ है। यह उसका कितना बड़ा विस्तार है। और उससे दूना दूसरा द्वीप है उससे दूना दूसरा समुद्र है। इस तरह चलते चलते अंतिम जो असंख्यातवां समुद्र है उसका जितना बड़ा विस्तार है उससे भी कम विस्तार असंख्यात समुद्र और द्वीपोंका है। तो पृथ्वीसे पतला पानी

होता है। मोटी पृथ्वी पतले पानीमें समा गयी।

हवाकी पानीसे अधिक व्यापकता—और बतावो अच्छा, पानी पतला है या हवा पतली है? हवा पतली है। पानी जितनेमें फैला है वह सब हवामें समा गया। हवा उससे अधिक विस्तार वाली चीज है और आगे चलो—हवा पतली चीज है या आकाश पतला है बतावो? आकाश पतला है तो इस अनन्त आकाशके मध्यमें ही सारी हवा समा गयी है।

हवा, आकाश और ज्ञानकी उत्तरोत्तर व्यापकता—अच्छा अब यह बतावो कि हवा पतली है या आकाश पतला है या ज्ञान पतला है? ज्ञानमें ये समस्त अनन्त आकाश समा गये हैं फिर भी ज्ञान भूखा बैठा है और कह रहा है कि ऐसे अन्य अनन्त आकाश और हों तो उसकी थोड़ी सी भूख मिटती है। तब सबसे विशाल चीज क्या हुई? ज्ञान। ज्ञानका फैलाव असीम है। इतने बड़े विस्तृत प्रदेशमें मैं हूं, उस परिणतिका नाम सरस्वती है, न कि जैसे कि चित्रमें दिखाया है ऐसी कोई असवंतनगरके किनारे बैठी हुई सरस्वती नहीं है।

भगवती चण्डी— इस भगवती प्रज्ञाकी प्रसन्नता चाहिए। फिर सर्व सिद्धि प्राप्त समझिए। इसके चंडी, मुण्डी कितने ही नाम हैं। चंडी क्या? चण्डयति, भक्षयति रागादि शत्रून् इति चण्डी। जो रागादिक शत्रुवोंको खा डाले उसका नाम चण्डी है। वह है यही भगवती प्रज्ञा। लोग कहते हैं कि गायकी पूँछमें ही तेतीस करोड़ देवता बसे हैं। अरे गायकी पूँछमें ही क्या—ये सब असंख्यात देवी देवता पड़े हुए हैं घट घट में, पर उनका स्वरूप जानो तो यथार्थ। सबके दर्शन होंगे अंतरमें।

भगवती काली—इस भगवती प्रज्ञाका नाम है काली। 'कलयति, प्रेरयति शिवमार्गे भव्यान् इति काली'—जो जीवोंको मोक्षमार्गकी प्रेरणा उसे काली कहते हैं। वही है भगवती प्रज्ञा। इसको ही कहते हैं मुण्डी। 'मुण्डयति इति मुण्डी।' जो वैरियोंका मलमे मुण्डन करे उसे कहते हैं मुण्डी। वह चमत्कार इस भगवती प्रज्ञामें है। अन्य अनेक नाम हैं—चन्द्रघंटा 'अमृतस्रावणे चन्द्रम् घंटयति इति चन्द्रघंटा।' जो अमृत बरषाने में चन्द्रमासे भी ईर्ष्या करे उसको कहते हैं चन्द्रघंटा अर्थात् अधिकाधिक अमृत बरषाये वह है चन्द्रघंटा। वह चन्द्रघंटा कहां मिलेगी? वह आत्मा में ही प्रज्ञा भगवती है जो अमृत बरषाती है।

भगवती प्रज्ञाका प्रसाद—भैया! कोई कितना ही दुःखी हो, जरा ज्ञानको स्वच्छ बनाया और अपना आकस्मिक रूप देख लिया—यह मैं सबसे न्यारा केवल चैतन्यमात्र हूं। इतना दृष्टिमें लें तो सही, फिर एक

संकट नहीं रह सकता है। लेकिन कोई मोहकी कल्पनामें ही हठ लगाए रहे तो उस पर फिर क्या बस है? दुःख है नहीं एक भी। पर हठमें अनेक झंझट बना रहे हैं, सो दुःखी हो रहे हैं। जब भगवती प्रज्ञाका प्रसाद इस जीवको प्राप्त होता है तब वह आत्मा और अनात्माका परिचय पाता है, पश्चात् अनात्मासे उपेक्षा करता है और आत्माको ग्रहण करता है। उस आत्माके ग्रहणकी यह चर्चा चल रही है। पहिले चेतनाके रूपमें कहा था, पश्चात् देखनेके रूपमें कहा और अब जाननेके रूपमें बात कही जाने वाली है। सो किस तरहसे ज्ञान द्वारा ग्रहण करते हैं, यह बात अब कल कहेंगे।

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ।।२९९।।

ज्ञानवृत्ति द्वारा आत्मग्रहण—प्रज्ञा द्वारा अपने आपको इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो ज्ञाता है सो ही निश्चयसे मैं हूं। ज्ञातृत्व भाव के अतिरिक्त अन्य समस्त जो भाव हैं वे मुझसे भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिए। यह ज्ञानगुण द्वारा आत्माको ग्रहण करनेकी बात कही जा रही है। ज्ञानमय आत्माको ज्ञानसे ज्ञानवृत्ति द्वारा ज्ञानरूप ग्रहण किया जाता है। मैं आत्माको पाऊँ तो किस रूप पाऊँगा? ज्ञानरूप। तब मैं इस ज्ञाता आत्माको ग्रहण करता हूं और जो मैं इस ज्ञाता आत्माको ग्रहण करता हूं और जो मैं इस ज्ञाता आत्माको ग्रहण करता हूं वह मैं जानता ही हूं और रूप ग्रहण नहीं करता। सो क्या जानता हूं। न जानता हुआ किसे जानूँगा? क्या राग करता हुआ जानता हूं? नहीं।

अभेदका भेदोपचारमें मोटा लौकिक दृष्टान्त—आत्माको मैं जानता हूं। यह भेद गुण-गुणीकी अपेक्षासे किया जाता है कि आत्माके ज्ञान है। जैसे हलुवामें क्या-क्या पड़ा है, क्या आप जानते हैं? घी पड़ा है, मीठा पड़ा है, आटा है। अच्छा आप बने हुए हलुवेसे घी अलग कर दें, शक्कर अलग करदें, आटा अलग कर दें फिर हलुवा ले आइए, उसमें घी दूसरा डालेंगे वह घी ठीक नहीं है। अरे उस घी पड़े हुए हलुवेमें घी भी हलुवा है, आटा भी हलुवा है और शक्कर भी हलुवा है। तो जिसका नाम हलुवा है, आटा भी हलुवा है और शक्कर भी हलुवा है। तो जिसका नाम हलुवा रखा उसकी बात देखो। जो केवल घी है, वह घी अलग मिल जायेगा, आटा अलग मिल जायेगा पर हलुवेका घी अलग न मिल जायेगा। हलुवा किसका नाम है जो हल-हलकर बनाया जाता है। उसको खूब घोटना पड़ता है, लगातार उसे चलाते ही रहना पड़ता है। चम्मच छोड़कर नहीं बैठ सकते। उस हलुवेकी बात कही जा रही है। तो लोकमें

परीक्षा कराने के लिए एक चीजमें भी भद्व्यवहार किया जाता है।

अभेदका भेदोपचार—इस प्रकार इस आत्माके परिचयमें भी भेद-व्यवहार किया जा रहा था, तो उस भेद कारकका व्यवहार यहां अभेद-कारकरूपसे किया जा रहा है। पर ज्ञानीपुरुषको तो यह अभेदकारक भी पसंद नहीं है। सो बात आगे आयेगी। मैं जानता हूं। यह स्वके अनुभव के समयकी बात है और किसको जानता हूं? जानते हुएको ही जानता हूं। वहां और कुछ नहीं मिल रहा है, वह जानता हुआ आत्मा मिल रहा है। कोई कहे कि यह तो बड़ी सरल बात है। करना धरना कुछ नहीं है। जानन आत्मा ही जानने वाला बन गया और सारी बातें अपने आप बन गयीं। यह तो कुछ कठिन नहीं है। हां यह वृत्ति आ जाय तो कठिन नहीं है। मगर इतना ही तो कठिन है कि कोई इस वृत्तिमें आ जाय।

ज्ञातृत्व ही वास्तविक विजय—कोई बड़ा लड़ाकू बोला हमसे कौन लड़ेगा, उससे लड़नेके लिए कोई हिम्मत बनाले। सब पंचोंमें उसकी कुश्ती तय हो रही है। मगर वह एक शर्त रख रहा है कि देखो यह पहलवान जब अखाड़ेमें पहुंचे तब गिर जाय फिर उसपर विजय पाना तो हमारे हाथकी बात है। अरे तो गिर पड़े यही तो कठिन बात है। फिर इसके आगे और विजय क्या करना है? यही तो विजय है। आत्माका मात्र ज्ञातृत्व परिणमन बने इतनी ही तो विजय है। आत्मामें और करना क्या है? अरे करना तो इसलिए पड़ रहा है कि हम उल्टा बहुत लम्बे निकल गए हैं। वहांसे लौटनेके लिए ये व्रत, तप, संयम ज्ञान सारी बातें करनी हैं। उससे लौटनेके लिए ये करने पड़ते हैं। पर करने को तो कुछ है ही नहीं। अपराध करते हैं तो हाथ जोड़ना पड़ता है। न करे कोई अपराध तो काहेका हाथ जोड़ना? उल्टा जो हम परोन्मुखतामें बह गए सो परोन्मु-खता छोड़नेके लिए, अशुभ परको छोड़नेके लिए शुभ परका आलम्बन करते हैं, पर आत्माको तो स्वयंकी वृत्तिमें परका शुभ, परका आश्रय भी नहीं है।

धर्मोत्सवका मर्म ज्ञातृत्व परिणमन—बड़ा समारोह एक प्रीतिभोजका किया जाय जिस सारे समारोहका टाइम १० मिनट है, पर पहिलेसे कितनी तैयारियां की जाती हैं, सामान इकट्ठा करना, लोगोंको बुलावा देना, सबको बुलाकर हालमें बिठाना, ये सब नटखट सिर्फ १५ मिनटके लिए है जिस समय मौजसे खा रहे हैं खत्म काम। तो यह धर्मका जो समारोह है रोजका या किसी नैमित्तिक समयका जो समारोह है उसमें कुल काम पाव सेकेण्डका है। करना बहुत कुछ पड़ता है सब कुछ उपदेश सुनते हैं, उपदेश करते हैं और मूर्तिके समक्ष प्रणमन करते हैं, पूजन

करते हैं, चर्चा करते हैं, फल केवल इतना ही है कि हमारी ज्ञानवृत्तिका परिणमन रहे, निजकी झलक आए। जिस समय यह मैं अपने आत्माको ज्ञानवृत्तिसे ग्रहण कर रहा हूं उस समय कैसे परिणत आत्माको ग्रहण कर रहा हूं। जानते हुएको ग्रहण कर रहा हूं। यह जाननरूप नहीं वर्त रहा हो तो ग्रहणमें नहीं आ सकता है।

आत्मग्रहणमें अभिन्नसाधनता—किस साधनके द्वारा मैं जानता हूं। किस तैयारीके द्वारा मैं जानता हूं? तो जानते हुएकी तैयारी द्वारा जानता हूं। वस्तुस्वरूपसे परे बहुत आगे निकल जाने वाले व्यक्तिका लौटना किस प्रकारसे हो रहा है? यह पहिले भेदकारकका व्यवहार करता, फिर अभेदकारकका व्यवहार करता और फिर निज केन्द्रमें मग्न होता है।

धाराका स्रोतमें प्रवेश—समुद्रका पानी उठकर यहां वहां भटक कर अंतमें उसे शरण कहां मिलेगा? समुद्रमें ही मिलेगा। आतापके द्वारा समुद्रका पानी भाप बनकर उड़ा, बादल बन गया। बादलके रूपमें छितरे बितरे रहकर जगह-जगह डोला—हजारों मील कहीं भटक आया, हजारों मील कहीं भटक आया, जब वे छितरे बितरे बादल अपना घनरूप बनाते समुदाय, पिण्ड जिसे कहते हैं। आज तो काले बादल हैं; पानी अवश्य बरसेगा, घनरूप बननेके बाद फिर बरसते हैं और बरसकर, पृथ्वी पर आकर ढालसे पानीनदीमें मिलता है, और वह नदी ढालसे चलकर समुद्र में मिलती है। लो समुद्रका पानी एक साल तक इधर उधर भटकता रहा फिर वहीं आ गया।

निजके ज्ञानमें ज्ञानघनता—परंतु भैया! यहां तो इस ज्ञानानन्दघन भगवान आत्माका उपयोग अनादिसे ही भटक रहा है। अनन्तकाल व्यतीत हो गए, टक्करें खा रहा है. कहां-कहां गया? इस लोकमें ऐसा प्रदेश नहीं बचा जहां अनन्त बार जन्म और मरण न हुआ हो। ऐसा भटकने वाला उपयोग अब कभी अपनेको घनरूप बनाता है, जब छितरा था तब तो भटकता रहा, जब छितरे ज्ञानको घनरूप बनाता है तब ऐसा होता है कि अब ठिकाने लगा उपयोग। घनरूप बनकर यह उपयोग अब अपने देशमें बरसने लगा, प्रदेशमें बरसने लगा। अब वे धारायें विनयके रास्तेसे, नम्र रास्तेसे, निचले रास्तेसे वहीं बहकर जिस ज्ञानानन्द सागरसे यह उपयोग निकला था उसी ज्ञानानन्द सागरमें उपयोग मग्न हो गया। अब शांति हो गयी। तो ऐसा मैं जो जानता हूं सो जानते हुएके द्वारा जानता हूं। जानते हुएकी स्थितिका साधन न मिले तो यह आत्मा ज्ञानमें नहीं आ सकता।

अभिन्नसाधनता—भैया ! यही अभिन्न साधन हो गया ठीक है, पर ऐसा करनेका प्रयोजन क्या है ? सट्टे वाले सोचते हैं कि जैसा भगवान सब जानता है वैसा मैं जानता होता वही नंबर बोलकर मैं करोड़पति बन जाता। भगवान् तो भोलाभाला है, जान रहा है, करता कुछ नहीं है। करनेका विकल्प तो उनके रागकी बात है। कोई असलियत नहीं कर रहे। स्वानुभवके कालमें जो मैं जानता हूं सो किसलिए जानता हूं ? जानते हुएके लिए जानता हूं। जानते भर रहने के लिए जानता हूं। अरे इतनेमें ही इतने बड़े कामका प्रयोजन चुका दिया क्या ? हां। इससे बढ़ कर और कुछ आनन्द या वैभव नहीं है। मोह भावमें लोग समझते हैं कि मैंने यदि परिवार अच्छा पा लिया तो सारा वैभव पा लिया, या कोई धन सम्पदा पा ली तो मैंने बहुतसी सम्पत्ति प्राप्त कर ली। खूब कमाया, खूब पाया, पर अंतरमें देखो तो पूरा टोटेमें रहा। बड़ा भी सेठ हो कोई तो भी उसकी आत्मा तो ज्ञानमात्र है, सूना है, परसे रहित है, और सम्पत्तिमें जो प्रेम बसाया उसका टोटा इसके पूरा बना हुआ है।

भिन्न प्रयोजनमें क्लेशका उद्गमन—तो भैया ! क्या करना है ? जानना भर है। जाननेसे आगे बढ़े कि विपत्ति ही विपत्ति है। छोटा बच्चा जब तक जानने भरका प्रयोजन रख रहा है तब तक वह खुश मिजाज रहता है, जहां कुछ बड़ा हुआ और कुछ ग्रहण करनेका प्रयोजन लग गया तो बीच-बीचमें क्लेश होते रहते हैं। और जब बड़ा बन गया, गृहस्थ हो गया तब तो ग्रहण करनेका प्रयोजन उसका और अधिक हो गया। तब सुख और चैनकी क्षण बहुत कम रह पाता है। तो जानना भर यदि प्रयोजन रहे तो वहां आनन्द है। जहां जाननेके प्रयोजनसे आगे बढ़े कि क्लेश ही क्लेश हैं। मैं जानते हुएके लिए जानता हूं।

आत्मग्रहणमें अपादानकी अभिन्नता—यह जानन एक परिणमन है। यह जानन कहांसे प्रकट हुआ ? इस जानते हुएसे ही प्रकट हुआ है। पानी का स्रोत निकला है सो वह कहांसे निकला है ? पानी भरी जगहसे ही पानी निकला है। सूखेसे तो पानी नहीं निकलता। भले ही ऊपर सूखा है मगर जहांसे निकला है वह तो पानीका निकेतन है। यह जाननवृत्ति कहांसे निकली है ? इस जानते हुएसे निकली है, न जानते हुएसे नहीं निकल पाती। यही अपादान है।

अधिकरणकी अभिन्नता—हां और मैं जानता कहां हूं ? इस जानते हुएमें जानता हूं। अपने आपमें अपने आपके स्वरूप देखने वाले को यह सब ज्ञात हो रहा है। जहां स्वरूपसे भ्रष्ट हुआ, इन्द्रियोंसे भीख मांगी और बाहर जाननेमें लग गए तो वहां इस मर्मकी खबर नहीं रहती और

यहां सच जान पड़ता है कि मैं कमरेमें बैठा हूं, इतने लोगोंसे कुछ कह रहा हूं, प्रयोजनके लिए श्रम कर रहा हूं। तो नाना भेदकी बातें दृष्टिगोचर होने लगती हैं और ज्यों ही जिस क्षण अपने आपके इस एकत्व निश्चयगत स्वरूपका दर्शन करते हों तो वहां वह अपने आपमें विश्रांत होनेके उन्मुख होता है और जानता है--लो यह मैं इतना ही तो हूं, इतना ही तो कर रहा हूं, इससे बाहर और कुछ मेरा परिणमन नहीं है। यह स्वानुभवमें प्रवृत्त अन्तरात्मा अपने आपको यों षटकारकमें ग्रहण कर रहा है।

अभिन्न षट्कारक बतानेका प्रयोजन एकमात्र स्वभवनका प्रदर्शन—अब और अन्तरमें चलिये, यहां यह अर्थ जो रखता है उस जानते हुएको जानता हूं, जानते हुएमें जानता हूं, अरे यह कुछ अलग बात है क्या? ये तो सब कुछ हो ही नहीं रहे हैं। सिर्फ वहां ज्ञानमात्र भाव चल रहा है। अब और अन्तरमें प्रवेश करके यह ज्ञानी अपने आपको जान रहा है क्या कि मैं नहीं जानता हूं। कहां जानता हूं? यह जाननभाव है, करने का क्या कम है? मैं जानता नहीं हूं—वह तो जानन भाव है। मैं न जानता हूं, न जानते हुएके द्वारा जानता हूं, न जानते हुएके लिए जानता हूं, न जानते हुएसे जानता हूं, न जानते हुएमें जानता हूं मैं तो एक सर्व विशुद्ध ज्ञप्तिमात्र भाव हूं। इस प्रकार यह अन्तरात्मा जिसने कि पहिले स्वरूप परिचय द्वारा प्रज्ञाके प्रसादसे आत्माको और विभावोंको पृथक्-पृथक् कर देनेके साथ प्रज्ञाके प्रसादसे रागादिक भाव बननेसे हटकर एक चैतन्यस्वरूप आत्माका ग्रहण कर रहा था और जैसे नये जोशमें ऊँचा काम तुरन्त कर लिया जाता है इसी प्रकार इस अन्तरात्मा ने नये जोश में पहिले चेतनके सामान्य भाव द्वारा अपने आत्माको ग्रहण किया था। अब कुछ समय बाद जोश जरा ठंढा हुआ तो चेतनाके भेदमें से दर्शनकी प्रधानतासे अपने आपको ग्रहण किया था। ठीक है। जोशमें व जोशके ठंडे होने की स्थितिमें यहां तीन प्रकारके ग्रहण आए। परन्तु इन तीनों प्रकारके ग्रहणोंके फलमें पाया वही का वही आत्मा।

चेतनामें सामान्यविशेषात्मकताका अनतिक्रमण—इस तरह आत्माके ग्रहणकी बात कह कर अब शास्त्र प्रकरण करनेके लिए अथवा ग्रहण-विषयक परिणतियोंकी विधियोंको कुछ विशेष जाननेके लिए एक प्रश्न किया जा रहा है कि पहिले चेतना सामान्यके द्वारा अपने अपने आत्मा को ग्रहण किया था उसके बाद फिर ज्ञान और दर्शनकी प्रमुखताको ग्रहण किया। सो यह चेतना दर्शन और ज्ञानके विकल्पका उल्लघन क्यों नहीं करती है, जिस कारण चेतयिताको ज्ञाता और द्रष्टा रूपमें उपस्थित किया। चेतना ही रह जाती। यहां दर्शन और ज्ञानके विकल्प उठना क्या

अवश्यम्भावी है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तरमें यह बताते हैं कि भाई चेतना तो प्रतिभास स्वरूप है। जब समस्त वस्तुवोंका यह न्याय है कि ये समस्त पदार्थ सामान्य विशेषका उल्लंघन नहीं करते तो यह सर्वोत्कृष्ट व्यवस्थापक चेतन किसी न्यायका उल्लंघन कैसे कर दे ? इस कारण चेतना भी सामान्यविशेषात्मक है। अब उसमें सामान्यरूप तो दर्शन है और जो विशेषरूप है वह ज्ञान है। इस तरह चेतना भी दर्शन ज्ञान-विकल्पका अतिक्रमण नहीं करता।

स्वभाव और स्वभावीकी एकार्थता—आत्माके ग्रहणके प्रकरणमें प्रथम चेतयिताके रूपमें आत्माको पाया था, फिर उस चेतयिताके ग्रहणके बाद द्रष्टा और ज्ञाताके रूपमें यह आत्मा ग्रहण किया गया है। यहां प्रश्न किया गया कि चेतयिताके रूपमें आत्माकी प्राप्ति हुई, सो यह सब कुछ हो गया, फिर इसके बाद द्रष्टा और ज्ञाता रूपमें उपस्थित करना क्यों आवश्यक हुआ ? उत्तरमें बताया है कि प्रत्येक वस्तु सामान्यविशेषात्मक होती है। तो चेतनावस्तु भी सामान्यविशेषात्मक है और वस्तु स्वभाव मात्र होती है। चाहे स्वभावके दर्शन करें और चाहे वस्तुके दर्शन करें, दोनों एक बराबर हैं। स्वभावमात्र वस्तु होनेके कारण स्वभाव भी सामान्य विशेषात्मक है। स्वभाव और स्वभावी ये दो कोई अलग चीज नहीं हैं। किन्तु समझनेके लिए स्वभाव और स्वभावीका भाव है।

चेतनाकी सामान्यविशेषात्मकताके अभावमें अनिष्टप्रसक्ति—यह चेतना सामान्यविशेषात्मक है। यदि चेतना सामान्यविशेषात्मकताका उल्लंघन कर दे तो वह चेतना ही न रहेगी, वस्तु ही न रहेगा क्योंकि अच्छा ऐसा कोई मनुष्य बनलावो जो न तो इंसानियत रखता हो, और न जिसके हाथ पैर आदि भी हों, ऐसा कोई मनुष्य लावो अर्थात् सामान्य और विशेषसे शून्य कुछ मनुष्य भी है क्या ? कुछ भी चीज है क्या ? नहीं, तो आत्मा भी सामान्यविशेषात्मक है। यदि सामान्यविशेषात्मकता न रहे तो चेतना ही न होगी और जब चेतना न होगी तो तब अपना जो असा-धारण गुण है वह ही न रहा तो वह बन गया अचेतन। इस चेतनमें चेतना तो रही नहीं, तब फिर हो गया अचेतन और चेतन रहा ही क्या जो अचेतन कहनेके लिए ही मिले क्योंकि वह सामान्यविशेषात्मकता न रही, चेतना न रही तो चेतनाका अभाव ही निश्चित है।

चेतनाकी दर्शनज्ञानात्मकताकी अनिवार्यता—अग्निसे गर्मी निकल जाय तो उसमें क्या दोष आ गया ? अग्नि ठंडी हो जायेगी और ठंडी क्या हो जायेगी, कहीं भी उसमें अग्नि न मिलेगी। गर्मी हो तो आग है और बुझा दिया, तब रह गया कोयला, अब उसे क्या कहेंगे ? ईंधन। इस लिए

इन दोनों दोषोंके भयसे चेतनाको दर्शनज्ञानात्मक ही मानना चाहिए। अब चेतना दर्शन ज्ञानरूप हो गयी तो जैसे चेतनाकी प्रमुखतासे आत्मा का ग्रहण किया जाता था, अब दर्शनकी प्रमुखतासे और ज्ञानकी प्रमुखता से आत्माका ग्रहण होगा। इस ही द्रष्टा ज्ञाताको उक्त दो गाथावोंमें बताया गया है।

द्वैतोंमें आद्यद्वैतका उद्भव—यह चेतना एक अद्वैत है, उसका ही स्वरूप सामान्यविशेषात्मकपना है। इस समय जरा यह तो देखो कि मूलमें तो यह एक अद्वैत अपने स्वरूप मात्र यह तत्त्व है और जगतमें तितर बितर यह कैसे फैला हुआ है, सो इसका बुनियादी कारण क्या? देखिए जब बुरा होनेको होता है तो अपना भला भी बुरा होनेके लिए मदद देने लगता है। यह आत्मा मूलमें अखण्ड एक चेतनस्वरूप हुआ। पर इसका स्वभाव स्वपर प्रकाशकपनेका है ना, परका प्रकाश भी करता है, परका जानन भी किया करता है। तो लो अब अद्वैत हो गया। बड़ी विपदा, बड़ा विकार आ गया होगा; मगर यह अपनी सज्जनता, अपना यह स्वरूप उस बड़ी विपदाके लिए मूल बन गया। सबके लिए मूल नहीं बना, सिद्ध भगवान भी स्वपर प्रकाशक है, पर वह आपदा नहीं बनता, पर जिनका बुरा होनहार है उनके मित्र, भाई भी उनके बिगाड़में किसी रूपमें कारण बन गए।

अयोग्य उपादानमें द्वैतस्वभावसे द्विविधावोंका विस्तार—कल्पना करो यदि यह आत्मा उस परको जाननेका स्वभाव ही न रखता होता तो फिर रागद्वेष आदि विभावोंका प्रसंग ही कैसे मिलता? तो परका जानना यद्यपि हमारा स्वभाव है पर जब हमारे नीचे दिन है तो यह हमारा परप्रकाशरूप गुण भी हमारे रागद्वेष परिग्रहके लिए एक मूलरूप भूलका सहायक बन जाता है। विश्लेषण किया जाने पर वहां भी यह ज्ञानवृत्ति बंधका कारण नहीं है लेकिन हम तो यह चाहते थे कि हम किसी परके जाननका स्वभाव ही नहीं रखते। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। थोड़ा मिला रागद्वेष परिग्रहको यहांसे मौका। यह परको जानता है तो रागद्वेष परिग्रहोंके कुछ बन बैठा क्योंकि रागद्वेषका परिग्रहण परको जाने बिना नहीं होता। सो यह अद्वैत चेतनस्वरूप आत्मा पहिले पर-प्रकाशकके रूपमें द्वैतमें बन गया।

विकल्पधारावोंका विस्तार—अब यह तो थी एक शुद्ध अन्तरमें शुद्ध द्वैतपनकी बात, परन्तु इसकी जड़ पर अब अशुद्ध द्वैतपना बन जाता है। और और अंतरङ्ग बहिरङ्ग कारण जुड़नेके साथ इस पर रागद्वेषका परिग्रहण हो गया। जब रागद्वेषका परिग्रहण हो गया तो कायकारकके द्वारा

यह फलका भोगने वाला हो गया। मैं करता हूं, मैं भोगता हूं। अहो कहां तो केवल जगमग रहना काम था और कहां ये करने और भोगनेके विकल्प आ गए। जहां पर भोगते हुए भी परपदार्थ भोगे नहीं जा रहे हैं। कौन विषयोंको भोगता है ? भोगने का विकल्प बनाकर जीव भुगा जा रहा है। विषयोंको कौन भोगता है ? विषयोंको भोगकर विषयोंका क्या बिगड़ा ?

नेत्र और श्रोत्रके विषयमें भोक्ताका बिगाड़--मान लो भैया ! सुन्दर सिनेमा, सुन्दर रूप या सुन्दर चित्र है और टकटकी लगाकर हमने अपनी आंखें बिगाड़ लीं, पर उस वस्तुमें भी कुछ बिगाड़ हुआ क्या ? रूपके भोगनेमें वहां तो कुछ बिगाड़ नहीं। बिगड़ गया यह भोगने वाला खुद। आजकल रेडियो चल गए हैं, जितनी बढ़िया तर्ज बड़ा खर्च करके भी सुन पाते वैसी तर्ज रेडियोका कान ऐंठते ही सुनलो। हो गयी सुविधा। रात भरका रेडियो स्टेशनका प्रोग्राम है मानो। सुनने वाला रात्रिभर संगीत सुनता रहेगा, अब वह सुनने वाला ही उससे बिगड़ जायेगा। रेडियो न बिगड़ जायेगा। सुनने वालेकी नींद बिगड़ी, स्वास्थ्य बिगड़ा, समय बिगड़ा। इस तरह यह जीव ही बिगड़ जायेगा, रेडियोसे कुछ खराबी न होगी।

नाक, जीभ, त्वचाके विषयमें भी भोक्ताका बिगाड़—इसी तरह नासिका इन्द्रियके विषयकी बात है, इसी तरह रसना इन्द्रियकी बात है। आप कहेंगे कि जब भोजन खाते हैं तो भोजनको, लड्डुवोंको खाकर उनका बिगाड़ कर दिया। अरे उनका क्या बिगड़ा ? वे तो स्कंध हैं। यों गोल-मटोल न रहे तो मुँहमें चूर-चूर हो गए और लारसे लेकर पेटमें पहुंच गया। अन्य रूप परिणम गया, कुछ बन गया। उस पुद्गलका क्या बिगड़ा ? क्या उस पुद्गलका सत्त्व नष्ट हो गया ? क्या उस पुद्गलके कर्मबंध हो गया ? क्या उसमें कोई क्लेश आ गया ? कुछ भी तो आपत्ति उसमें नहीं आया। इसी तरह पंचेन्द्रियके विषयोंके भोगनेमें विषय हैरान नहीं होते, विषयोंका बिगाड़ नहीं होता। विषय नहीं भोगे जाते। खुद हैरान हुए, खुदका बिगाड़ हुआ, फिर इस स्थितिमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व की कल्पनामें इसके समस्त प्रदेश खिन्न हो गए। अब यह जो क्रिया करता है उसीमें ही उसे खेद होता है। जिसका उपादान खेद करने का है सो उसे कहीं बैठाल दें खेद ही उत्पन्न करेगा। जिसका उपादान क्रोध करने का है वह कुछ भी बाहरमें संग्रह विग्रह करलें, पग-पग पर क्रोध ही उत्पन्न करेगा। जिसका उपादान मानयुक्त है उसे कहीं भी बैठाल दें वह मानकी ही बात करेगा।

उपादानके अनुकूल उद्गम—एक सेठ जी के तीन लड़के थे, वे तीनों ही लड़के तोतले थे, और एक किसी अन्य सेठके तीन लड़कियां विवाहके योग्य थीं। तो नाई भेजा कि देख आवो सेठके लड़कोंको। पहिले नाई ही लड़का पसंद करने आया करता था। खवास जी! वह कह दे कि लड़का अच्छा है तो सभी लोग उसकी बात मान कर विवाह कर देते थे। छ. खवास जी पर जब विश्वास न रहा तो बाबा लोग देखने जाने लगे। अब लड़केके बाबा पर विश्वास नहीं रहा तो पिता और चाचा जाने लगे। जब पिता और चाचा पर विश्वास नहीं रहा तो खुद जाने लगे पसंद करनेके लिए। तो पुराने जमानेकी बात है—नाई गया देखने तो सेठ जी ने तीनों लड़कोंको खूब सजा करके तीनों लड़कों को बैठाल दिया और कह दिया कि बोलना मत। अच्छी बात है। उन्हें खूब वस्त्र आभूषणोंसे सजाकर बैठाल दिया। लाइलोनका कपड़ा बहुत बढ़िया नहीं होता है और हमारी समझके अनुसार जो छोटे चित्तके लोग होंगे वे ही लाइलोनको पसंद करेंगे। हमारी बात बुरी लगे तो बड़े आदमी छोड़ दें। हम तो जानते हैं कि लाइलोन छोटे चित्त वाले ही लोग पसंद करते हैं। सो अच्छी तरहके रेशमी कपड़े पहिना करके अच्छी गोल टोपी लगाकर तीनोंको गद्दी पर बैठा दिया।

अब आये खवास जी। देखा एकसे एक बड़े अच्छे लड़के कितने सुन्दर हैं, उनकी सूरत पर गुण ही टपक रहा है, धन्य है। आखिर बड़े सेठके ही तो लड़के हैं। ऐसी प्रशंसाकी बातें सुनकर एक लड़का बोला—ऊँ अभी टंडन मंडन तो लगा ही नहीं है, नहीं तो बड़े सुन्दर लगते। दूसरा लड़का बोला—अबे डड्डाने का कई ती, समझाया तो था कि चुप रहना, बोलना नहीं तीसरा लड़का बोला मुँहमें अंगुली लगाकर कि टुप टुप। नाई ने देख लिया ये सभी लड़के तोतले हैं। तो जिसका उपादान खोट है वह कैसे अपनी खोटी वृत्ति छोड़ देगा? इस कारण खोट अपन सबमें है। किसीमें कम किसी ज्यादा, तो किसी समय हम दुःखी हों, किसी समय हमें किसी पर कोई कषाय लगे तो उस समय अपना ऐसा विचार करना चाहिए कि बाहरी बातोंके संग्रह विग्रहसे यह दुःख मेरा मूलसे न जायेगा। बाहरी प्रयत्न करनेसे हमारा क्लेश मूलसे नष्ट न होगा। हमें ज्ञान-बल बढ़ाकर अपने ही प्रदेशमें अपनेमें ही कुछ बदलना है, करना है, खोट हटाना है तो बात बनेगी।

आत्मदृष्टि वह्निकणिका और विपत्ति इंधन—सो देख लो भैया कि यह ज्ञानानन्द निधान भगवान आत्मा कैसे-कैसे इतनी बड़ी विपत्तिमें आ गया? आ गया, कुछ परवाह नहीं। जैसे ईंधनका बड़ा ढेर है और उसमें आगकी कणिका धर दें तो सारा ढेर भस्म हो जायेगा। परवाह नहीं है।

शहरोंका जब कूड़ा बहुत जम जाता है तो छोटी-छोटी ठेलियोंसे कहां तक हटाएँ, ऐसा सोचकर साफ करने वाले लोग आग लगा देते हैं। दो चार घंटेमें ही वह साफ हो जायेगा। इतनी बड़ी विपत्तियां आ गयीं, आने दो, कुछ परवाह नहीं। जिस ही कालमें यह मेरा उपयोग विज्ञानघन आत्मस्वरूपमें मग्न होगा कि सारी विपत्तियां भस्म हो जायेंगी। यह तो बात रही शुभविनश्यनाकी।

व्यापकका अभाव होनेसे व्याप्यका अभाव—अब स्वरूपदृष्टिपर जो कि प्रकरणकी बात है अब आये। यह चेतना यद्यपि एक अखण्ड अखण्ड अद्वैतरूप है फिर भी यह दर्शनज्ञानात्मक है, सामान्यविशेषात्मक है। यह चेतना यदि सामान्यविशेषरूपका त्याग करदे तो चेतना तो अस्तित्व ही खो देगी। जब चेतनाका अस्तित्व मिट गया तो चेतनामें भी जड़ता आ गयी। सारे चेतनोंमें व्यापक है चेतन। तत्त्वका अभाव होनेसे साध्य चेतन कहां रह सकेगा? इसका भी विनाश होगा। इस कारण यह निश्चित है कि यह चेतना दर्शनज्ञानस्वरूप है। यह कथा किसकी हो रही है? आंखें खोलकर बाहर देखकर नहीं बताया जा सकता है। इन्द्रियों को संयत करो, कुछ अन्तर्जल्प करके अंतरङ्गमें ही देखें तो यह कथा खुद की हो कही जा रही है।

चिन्मात्र प्रभुकी भक्ति—इस चेतन मुक्त आत्माका एक चिन्मात्र भाव ही है, अन्य कुछ नहीं है याने इस मुक्त आत्माका केवल एक चैतन्य स्वरूप ही है, इसके अतिरिक्त यहां ही उत्पन्न होने वाला औपाधिक अन्तरका भाव भी मेरा नहीं है, फिर प्रकट भिन्न धन वैभव सारे परिवार आदि की तो बात ही क्या है? लोग कभी-कभी खुश हो जाते हैं मन चाहा धन मिल जाने पर, मनचाहा कार्य सिद्ध हो जाने पर। अव्वल तो हां मनचाहा कुछ नहीं होता क्योंकि एक काम मनचाहा हो गया तो दूसरा मनचाहा और चित्तमें खड़ा हो जाता है और हो भी गया मन चाहा तो इस एक मनचाही बातके हो जानेसे कौनसा वैभव पा लिया? वह तो बाहरकी ही चीज है। जिसने अपने सनातन अहेतुक इस चिन्मात्र भावको ही अपनाया है, मैं तो मात्र इतना ही हूं, अपना ले यह अंतरङ्गसे जिसकी पहिचान है कि बाह्य विषय परिग्रह सब नीरस लग जावें, ऐसी अपने अन्तरकी बात अपना ले तो वह है तीर्थंकरका परमभक्त।

परभावकी हेयता—भैया! जिनेन्द्रदेवने बताया है कि मोह त्यागो और अपने स्वरूपमें समा जावो, इसका अभ्यास जो करता है वह ही है तीर्थंकर देवका परमभक्त। मेरे एक चैतन्यमात्र भावके अतिरिक्त अन्य जो कुछ भाव हैं वे परपदार्थके हैं, वे मेरे कुछ नहीं हैं। घरमें ही लड़का

यदि एक कुपूत हो जाय, बेढंगा हो तो माता कहती है कि मेरा लड़का नहीं है। तो यह लड़का बापका है। बाप बोले कि यह लड़का मेरा नहीं है, यह तो इसका है। तो कहो दोनोंमें लड़ाई हो जाय। उस लड़के को न मां अपना मानना चाहती है और न बाप अपना मानना चाहता है। इसी प्रकार ये रागादिक भाव मेरे नहीं हैं, ये तो जिनके निमित्तसे हुए हैं उनके भाव हैं। मेरे लिए ग्राह्य तो एक चिन्मात्र भाव है, बाकी नैमित्तिक पर-भाव सर्व ओरसे हेय हैं। एक इस चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वका ग्रहण करो।

सिद्धिका मूल शुद्धदृष्टि—भैया! दृष्टि यदि शुद्ध है तो नियमसे सर्व सिद्धि होगी। दृष्टि यदि निर्मल नहीं है, आशय यदि खोटा है तो बाहरी दिखावटसे, बनावटसे, सजावटसे कहीं अंतरङ्गमें शांति न हो जायेगी। कोई बुद्धिमान् लोग ऐसे होते हैं कि हैं तो दुःखी मगर दिखाना पड़ता है दुनियाको कि हम सुखी हैं। कोई व्यापार आदिमें टोटा पड़ जाय तो उससे अन्तरमें तो है वह दुःखी मगर ग्राहकोंको, और लोगोंको यदि यह जता दिया जाय कि हम बड़े दुःखी हैं तो उसके तो व्यापार पर भी धक्का लग जायेगा। सो वह कहता है कि मुझे कुछ परवाह नहीं, हो गया होने दो। ऊपरी बनावटसे अन्तरङ्गमें कुछ वहां बात न बनेगी। ज्ञानबलसे अपने भावोंको पवित्र बनाएँ तो सर्व कल्याण है।

को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सव्वे पराइये भावे।
मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥३००॥

स्वकीय ज्ञानमें परात्मबुद्धिका अभाव—अपने आत्माको शुद्ध जानते हुए समस्त अन्य भावोंको परकीय जान करके ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो परकीय भावोंको मेरा है—ऐसे वचन कहे। जिसको अपने और पराये का पता है वह तो पागलकी नाईं कभी अपनेको अपना कह दे, कभी परायेको अपना कह दे, किन्तु जिसको अपने भावोंका निश्चय है और पराये भावोंका निर्णय है वह पुरुष परकीय भावको अपना नहीं कह सकता। हमने तो आप लोगों को एक दिन भी भूलकी बात नहीं देखी कि कोई दूसरेके लड़केको अपना बोल देता हो। आप हमेशा अपने लड़केको ही खूब अपना कहते और गले लगाते और उसके पीछे जिंदगी भर मरते हैं। हमने तो कोई भूल नहीं देखी। तो जैसे लोक व्यवहारमें आप सयाने चतुर हैं, वहां भूल नहीं करते हैं, वहां परमार्थसे सारी भूल पर जैसे व्यवहारमें भूल नहीं करते ऐसे परमार्थकी बात जानकर भी तो बे भूल रहना चाहिएँ यहां दूसरेके लड़केको पराया बताना और अपने घरके लड़केको अपना बताना विवेक नहीं है, बड़ी भूल है। तो क्या

परके लड़के को अपना कहना और अपने लड़केको पराया कहना यह विवेकहै ? यह भी भूल है। सबको पराया समझना और उनके स्वरूपको अपने आत्माके स्वरूपकी नाई समझना, सो विवेक है।

निरापद आत्मतत्त्व—निज आत्मा कैसा है ? शुद्ध है अर्थात् केवल है, खालिस है, अकेला है, अपने स्वरूपमात्र है। इसमें न शरीर है, न द्रव्यकर्म है, न रागादिक भाव हैं, कोई पर-आपत्ति नहीं है, ऐसा यह शुद्ध आत्मा है जैसा ज्ञानी पुरुष जान रहा है। वह विधि तो बताओ जिस विधिसे हम भी जाननेकी कोशिश करें। उसकी विधि पूछते हो तो उस शुद्ध आत्माके जाननेकी विधि यह है कि सबपदार्थोंको भिन्न और अहित जानकर अपने आपमें परम समतारससे परिणत होओ, यह विधि है आत्माको जानने की। जानना हो तो यह विधि करके देख लो। और यह विधि करते न बने तो कमसे कम इतनी सज्जनता तो रखिए कि दूसरे लोग ऐसी विधि कर लेते हैं, ऐसी श्रद्धा तो रखिये। अपनी ही तरह समस्त जीवोंको अज्ञानी तो न समझिये।

व्यर्थका अहङ्कार—भैया ! सबसे बड़ा एक दोष जीवमें यह आ गया है कि अपने मुकाबले किसी दूसरेको कुछ मानता ही नहीं है। वह जानता है कि दुनियामें पूरी डेढ़ अकल है, उसमें से एक अकल तो मुझे मिली है और आधी अकल सब जीवोंमें बांटी गयी है। यों यह अपनेको बड़ा बुद्धिमान् मानता है जो वह विकल्प करता है, जिसे यह चिंतन बना है। समझता है कि मैं पूरी बुद्धिमानीके साथ चिंतन कर रहा हूं। पर काहेकी बुद्धिमानी ? केवलज्ञान उत्पन्न होनेसे पहिले तक छद्मस्थ अवस्था है, उनके अज्ञानका उदय कहा गया है औपाधिक भावकी अपेक्षा और उनका असत्य वचन भी बताया गया है १२ वें गुणस्थान तक । तो सर्वज्ञता पाये बिना हम अपनेको सब जैसा एकसा ही समझें। हमारी कोई ऐसी स्थिति नहीं है जो अहंकारके लायक हो।

सर्वनैपुण्यके अभावका एक उदाहरण—एक १८, १९ वर्षका लड़का बी. ए. पास करके उसकी खुशीमें . एक समुद्रमें टहलने के लिए जाने लगा। तो समुद्रमे नाव खेने वाले से कहता है कि ऐ मांझी, तू मुझे इस समुद्रकी सैर करा। मांझी बोला कि १) किराया होगा। हां १) ले, और क्या चाहता है? अब नाव जब चलती है तो बैठे-बैठे चुपचाप नहीं रहा जाता, गप्पें की जाती हैं। एक नाव और एक नाई की हजामत, इनमे चुपचाप नहीं बैठा जाता है। जिसकी हजामत बन रही वह चाहे बैठा रहे चुप क्योंकि छुरा लगनेका डर है, पर नाई तो गप्प करता ही रहेगा। वहा नावमे यह बी. ए. पास बालक : कहता है कि ऐ मांझी, तू कुछ पढ़ा

लिखा है ? बोला—नहीं मालिक । तो तू ए. बी. सी. डी भी नहीं जानता ? बोला—नहीं मालिक ! तो तू अ आ इ ई भी नहीं जानता ? यह भी नहीं जानता । तो तेरा बाप पढ़ा लिखा है ? बाप भी नहीं पढ़े लिखे हैं। हमारी परम्परासे यह नावका व्यापार चल रहा है। वह लड़का बोला—बेवकूफ, नालायक, और भी कुछ गालियां देकर जिनको मैं नहीं जानता, कहता है कि ऐसे ही इन बिना पढ़े लिखे लोगोंने भारतका बरबाद कर दिया। अब सुनता गया बेचारा, क्योंकि अपराधी तो था ही, पढ़ा लिखा न था। जब नाव एक मील दूर पहुंच गई तो वहां ऐसी भँवर उठी कि वह नाव मँडराने लगी। सो वह बी. ए. पास बालक डर कर कहता है कि अच्छी तरह नाव खेना ताकि नाव डूब न जाय। तो वह बोला कि यह तो डूब ही जायेगी, ऐसी कठिन स्थिति है। और हम पर कृपा करना हम नाव छोड़कर तैरकर निकल जायेंगे। अब वह डरा। तो मांझी बोलता है कि बाबू साहब तुमने पानीमें तैरना सीखा कि नहीं ? बोला कि हमने नहीं सीखा। तो जितनी गालियां बाबू साहबने दी थीं उतनी ही गालियां देकर वह मांझी कहता है कि ऐसे लोगों ने ही भारतको बरबाद कर दिया है। मात्र ए. बी. सी. डी. पढ़ लिया, कला कुछ सीखी नहीं, इस कलाविहीन पुरुषोंने ही तो भारतको बरबाद कर दिया।

अज्ञानी और ज्ञानीकी लखन—तो भैया ! किसको कहा जाय कि यह अपने ज्ञानमें पूरा है, कोई किसी प्रकारके ज्ञानमें पूरा है, कोई किसी प्रकारके ज्ञानमें पूरा है। अब हमसे आप कहने लगें कि जरा इतिहास पर भी व्याख्यान दो, तो क्या दे देंगे ? भले ही पौराणिक बातोंको कह कर थोड़ा, बोल दें, सो भी अधिक नहीं। तो कोई मनुष्य किसी भी वैभव से पूर्ण सम्पन्न नहीं है, फिर ऐसा सोचना बिना सींग वाले पशुका ही काम है कि दुनियाको डेढ़ अकल है, सो एक मिली हमको और आधी सबको बँट गयी। ज्ञानी पुरुष दूसरेको देखता है तो सबको एक स्वरूपमें देखता है और जब परिणमनकी मुख्यतासे देखते हैं और व्यक्तिकी अपेक्षा देखते हैं तो सबको अपनेसे न्यारे देखते हैं।

अज्ञानी और ज्ञानीके पक्ष और निष्पक्षता—लोग अपने पुत्रोंका पक्ष लिया करते हैं। उसने किसीको पीटा भी हो, किसी पर ऊधम भी किया हो तो जब झगड़ा आयेगा तब दूसरे बालक का ऐब देखेंगे, अपने बालक का ऐब न देखेंगे। कदाचित दूसरे लड़के वाले यह शिकायत करें कि तुम्हारे लड़के ने हमारे बच्चेको पीट क्यों दिया तो क्या उत्तर मिलेगा कि हमारे लड़के के पास तुम्हारा लड़का बैठता क्यों है ? लो, यह कसूर मिला। किन्तु जो ज्ञानीगृहस्थजन हैं वे अपने बच्चेके अन्यायका पोषण नहीं किया करते हैं। अपने पुत्रको भी, यदि अन्यायी है तो दण्डित करते

हैं। ऐसे ही उपयोगमें दोष है तो अपने उपयोगको दंडित करते हैं ज्ञानीपुरुष।

प्रज्ञाका पुरुषार्थ—जो अपने आत्माको समतापरिणामसे परिणत होकर अभेदरत्नत्रयरूप भेदज्ञानसे परिणत होकर शुद्ध आत्माकी भावना में निरत होकर अपने आपको शुद्ध केवल ज्ञायकस्वरूपमात्र जानता है और इन रागद्वेषादिक भावोंको ये परके उदयसे उत्पन्न हो जाते हैं—यह निश्चय करता है, इस कारण मुझे यह पूर्ण निर्णय है कि मेरा तो एक नियत चैतन्यभाव ही है, अन्य कुछ मेरा स्वरूप नहीं है। फिर वह कैसे पर भावोंको अपना कहेगा? जो प्राणी ऐसी प्रज्ञाके द्वारा ज्ञानी बनता है, जो प्रज्ञा विभावमें और आत्मस्वरूपमें नियत स्वलक्षणका विभाग पटकने वाला है उस प्रज्ञाके कारण जो ज्ञानी हुआ है वह तो एक चैतन्यमात्र भावको आत्मीय जानता है। वह तो जो ज्ञान हो रहा है उस वृत्तिको भी नहीं पकड़ता है, जानता भर है कि वह भी नष्ट होने वाली चीज है, किन्तु जाननरूप परिणमनका जो स्रोत है ऐसा जो ज्ञायकस्वरूप है, ऐसा जो ज्ञानस्वभाव है उसको जानता है कि मैं हूं। मैं तो ज्ञानके द्वारा एक चैतन्य मात्र अपने आपको जानता हूं।

चिन्मात्र भावकी धारणा—जो अन्य शेष भावोंको परकीय जानता है ऐसा जानता हुआ यह ज्ञानी पुरुष परभावोंका यह मेरा है—ऐसा कैसे बोल सकता है क्योंकि परको और आत्माको निश्चयसे एवं स्वामी सम्बन्ध नहीं होता है, इस लिए सर्व प्रकारसे चित्स्वरूप भाव ही ग्रहण करना चाहिए और बाकी शेष समस्त भाव दूर करने चाहिएँ। जो चिड़ियाका सबसे छोटा बच्चा होता है उसे चेनुवा बोलते हैं। अभी यह चेनुवा है, इसे छेड़ो नहीं। जो चल नहीं सकता, हिल नहीं सकता, एक मांसका लेथड़ जैसा पड़ा हुआ है, जिसके श्वासका भी पता नहीं पड़ता कि चलता है या नहीं। जैसे तुरन्त अंडा फूटा उसी समय जैसा लेथड़ हुआ उसे लोग चेनुवा कहते हैं। लोगोंके कहनेमें बहुत पूर्वकालमें मर्म क्या था कि अभी इसके शरीर ही नहीं बना है। यद्यपि कुछ शरीर है मगर वह पूर्ण नहीं है इसलिए शरीरकी दृष्टि नहीं है। जो साधारण चीज होती है उसको लोग मना करके कहते हैं। जैसे किसी लड़की का पेट बहुत पतला हो तो उसे क्या कहते हैं कि इसके पेट हो नहीं है। तो तुच्छ जैसी चीज रह जाय तो उसे लोग कुछ नहीं बोला करते हैं। तो उस चेनुवाको मनुष्य यह बोला करते हैं कि उसके शरीर ही नहीं है। तो क्या है? चिन्मात्र। मात्र चैतन्य है, चित्के सिवाय यह और कुछ नहीं है। भाव तो किसी जमानेमें यह था।

स्वातन्त्र्यसिद्धान्तकी सेवा—अब इस चिन्मात्र तत्त्वको भीतरकी

गहराईके साथ देखने चले जाएँ तो कैसा स्थिर ध्रुव, कुछ जिसके बारेमें नहीं कहा जा सकता, ऐसा एक ज्योतिर्मात्र तत्त्व मिलेगा। उस चिन्मात्र प्रभुकी उपासनाका ऐसा बड़ा चमत्कार है कि जो पद तीन लोकमें सर्वोत्कृष्ट है वह पद चिन्मात्रकी आराधना करने वालेको मिलता है। इस कारण हे गम्भीर दिल वालो, उदार चित्त वालो, अर्थात् जो जरा-जरासी बातोंमें विह्वल नहीं होते, आकुलित नहीं होते दूसरोंके बारेमें गलत नहीं सोचते ऐसे गम्भीर और उदार चित्त वाले हे आत्मावो ! तुम मोक्षके अर्थी तो हो ही, संसारका कुछ भी वैभव आप नहीं चाहते हो और न किसी वैभवको देखकर अपना बड़प्पन समझते हो। तो तुम्हें क्या चाहिए कि इस वस्तुकी स्वतंत्रता वाले सिद्धान्तकी सेवा करो।

जैनसिद्धान्तकी प्रमुख विशेषता—भैया ! जैनदर्शन में अनेक विशेषताएँ हैं, जिनमें अकसर लोग यदि पूछें कि जैन धर्मके महत्त्वकी बात क्या है ? तो लोग बताते हैं कि इसमें त्यागका महत्त्व है, इसमें अहिंसाका महत्त्व है, इसमें अपरिग्रहका महत्त्व है। इसमें आचरणोंको क्रम-क्रमसे पालन करनेकी पद्धति बतायी है। पहिले इतना त्यागो, फिर इस तरह बढ़ो, इस तरहसे अनेक बड़ो बातें हैं। हैं वे भी बड़ी बातें, मगर सबसे बड़ी बात यह है कि वस्तुका यथार्थ स्वरूप इस दर्शनमें लिखा है, जिसके कारण मोह टूट जाता है, यह खास विशेषता है जैन सिद्धान्तकी और तो सब ठीक ही है।

मुख्यलाभके साथ गौणलाभकी प्राकृतिकता—बढ़िया खूब लम्बी गेहूंकी बाल पैदा हो तो भूसा तो खूब मिलेगा ही, यह भी कामकी चीज है। किन्तु इस भूसासे ही तो संतुष्ट तो किसान न हो जायेगा किन्तु इस खेत में जो अनाज पैदा होगा उसका महत्त्व है। एक बीजमें चार पांच अंकुश निकलते हैं और एक-एक अंकुशकी हैं। बालमें ४०–४० के करीब दाने होते हैं। यों कोई अनाज आदि उत्पन्न हो तो वह है खेती की विशेषता। मूल चीजमें विशेषता है तो उसमें और चीजोंकी विशेषता होगी ही। जैनसिद्धान्तके कुलमें स्वयं ही यह बात देखी होगी कि न कोई जीवकी हत्या करे, न कोई मांस खाते, न कोई मदिरा पीते और अब तो समय निकृष्ट आया ना, इसलिए बलपूर्वक यह कहनेको त्यागियोंकी जबान गृहस्थ समाजने रोक दी है कि मत बोलो कि इस कुलमें रात्रिको नहीं खाया जाता है। जहां उत्तम आचरणोंको प्रथा है, पापुलेशन देख लो सब जगह दृष्टि पसार कर, उन्हीं विशेषतावोंकी लोग तारीफ करते हैं, मगर जैन सिद्धान्त की भर्वोपरि एक विशेषताको नजर लाएं, यहां वह प्रत्येक वस्तुको अपने ही स्वरूपमें तन्मय बताने की उपदेश है जिसके फलमें मोह टूट जायेगा।

वस्तुविज्ञानसे सावधानी—भैया ! यदि वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान है तो तुम कितना ही इस मोहको रोको कि अरे मोह तू न खत्म हो, नहीं तो मोहका सारा मजा खत्म हो जायेगा तो भी मोह रह नहीं सकता, क्योंकि वस्तुका स्वरूप आपकी दृष्टिमें आया कि अरे मोहमें आनन्द है कहां ? वस्तु-स्वातन्त्र्यके अनुभवसे जो स्वाधीन सहज आनन्द प्रकट होता है उसके अनुभवके बाद आप यह चाहेंगे कि हे सहजआनन्द ! तुम ही सदा काल रहो। मैं एक क्षणको भी अपने स्वरूपकी दृष्टिसे चिगकर किसी परकी ओर उन्मुख नहीं होना चाहता। मिलेगा क्या परकी उन्मुखतामें अच्छा तुम किस परकी ओर उन्मुख होना चाहते हो, धन वैभव सोना चांदी ये जड़ हैं, अचेतन हैं, ये कुछ भी आपके धर्मके लिए चेष्टा नहीं करते। तो नाक, थूक, मल आदिसे भरे हुए दूसरे शरीरसे भी क्या मिलेगा ? अपना ही सब खोकर जायेंगे मित्रजन, अनुरागीजन जो बड़ा प्रेम दिखाते हैं, वह प्रेम प्रदर्शनका बड़ा धोखा है कि हम आप ज्ञानानन्द निधान ब्रह्मस्वरूपसे चिगकर अंधे और पागल हो जायेंगे।

निर्विघ्नस्वगृहसे न हटनेका सन्देश—भैया ! अपने इस सुरक्षित आनन्दमय घरसे निकलकर जगह-जगह ठोकर खिलाने वाले परघरकी ओर उन्मुख क्यों होते हो ? जैसे सावनकी तेज घटामें जब कि तेज वर्षा हो रही है, मूसलाधार वर्षा चल रही है और यदि हम बड़ी अच्छी कोठरी में बैठे हों जहां एक भी बूँद नहीं चू रहा है तो ऐसी कोठरीसे निकलकर मूसलाधार वर्षामें जानेका चाहेंगे क्या ? इसी तरह इस सम्यक्त्वके कालमें, जब कि अन्यत्र बाहर सब जगह क्लेश और चिंताओंका वातावरण छाया है मूसलाधार विपत्तियां नहीं हैं, बड़ा स्वाधीन सहजआनन्द प्रकट हो रहा है ऐसी स्थितिमें आनन्दमय निजमें बैठकर एक बार आनन्दसे तृप्त होकर क्या तू इस मूसलाधार वर्षामें बाहर निकलना चाहता है ? ऐसा जो करेगा उसे बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता।

अमोघ प्रकाश—इस जगत्में सर्वत्र अज्ञान और मोहका अंधेरा छाया है। जिस अंधेरेमें बसा हुआ प्राणी अपने स्वरूपको शांतिके मार्गको तो प्राप्त करता ही नहीं, उल्टा क्लेशका उपाय बढ़ाया करता है। यदि जिनेन्द्र देवका यह सद्वचन न होता तो जीव कैसे दुःखसे छूटकर सुखमें पहुंच पाते ? उपासनामें चाहिए रागद्वेषरहित सर्वज्ञदेव और कर्तव्यमें चाहिए रागद्वेषसे परे होना—इन दोनोंका उपाय बने कैसे ? इसका मात्र एक उपाय जो अत्यन्त सुलभ है, बताया तीर्थंकर परमदेवने कि हे आत्मन् ! तुम्हारा जो सहज ज्ञातृत्वस्वभाव है, चैतन्यस्वभाव है उसको जान लो तो तुम्हें प्रभुकी भी श्रद्धा बनेगी और निर्दोषताका कर्तव्य भी बनेगा। भगवानने स्पष्ट आगममें प्रकट किया है कि हे भव्य जीवों ! तुम लोगोंके

लिए प्रथम पदवीमें तुम्हारे स्वरूपके ज्ञानके लिए मेरा शरण है, तुम्हारे स्वरूपके स्मरणके लिए तुम्हें शरण है, पर तुम केवल मुझको ही शरण मानकर मेरे पास मत आवो। किन्तु अपना परमार्थ शरण जो तुम्हारे आत्मामें अंतस्तत्त्व बसा है उसकी शरण पहुंचो।

जैन उपदेशकी सत्य घोषणा—भगवान्‌को यदि अभिमान होता, उन्हें सांसारिक महत्त्वकी इच्छा होती तो वह उपदेश देते कि तेरे लिए कहीं कुछ शरण नहीं है। तू केवल मेरी शरणमें रह और हाथ जोड़, सिर रगड़। प्रभुकी ऐसी शुद्ध ज्ञानवृत्ति होती है कि अपने लिए कुछ भी चमत्कार नहीं चाहता। भैया! ज्ञानीजन ही जब यों निरहंकार होकर रहते हैं और परजीवोंसे उपेक्षित रहते हैं, अपने स्वरूपकी आराधनामें सजग रहते हैं तो प्रभु भगवंत कैसे यह विकल्प करेगा कि तुम एक मेरी ही शरणमें आवो।

प्रभुशरण—भैया! गहो शरण प्रभुकी और खूब गहो शरण, भव भव के बांधे हुए पापोंके भस्म करनेके लिए बड़ी दृढ़तासे गहो प्रभुके चरण और आनन्द और खेदके मिले हुए भावोंसे निकले आसुओंसे अपने पाप को धोवो खूब, यह पहिली पदवीमें आवश्यक है, फिर जैसे वर्तभाव हटके हों, विकल्प भाव कम हों मनसे, अपनेमें विश्राम लेनेकी स्वयं इसे खबर हो जाती है कि अपने आप मुझे यह करना है जो अपना सहजस्वरूप है सो देखते रहो।

सत्संगति व शास्त्राभ्यास—भैया! सत्संगति और शास्त्राभ्यास ये दो ऐसे प्रबल साधन हैं जीवके उद्धारके कि जिन साधनोंमें रहे, कभी तो अवश्य आत्माकी तृप्ति पायेगा। किन्तु यह मोही दोनोंसे दूर रहना चाहता है और इसके एवजमें असत्संगति करके और गप्प चर्चामें रहकर अपने आप पर क्लेश भार बढ़ाता है। ज्ञानी जीव अपने आपमें प्रेरणा ला रहा है कि मैं एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं और मुझमें जो अन्य नाना-प्रकारके भाव उत्पन्न होते हैं वे मुझसे पृथक् लक्षण वाले हैं। वे सब मैं नहीं हूं क्योंकि वे सबके सब परद्रव्य ही हैं। जो जीव परद्रव्योंको ग्रहण करता है वह अपराधी है, वह नियमसे बँधता है, जो परद्रव्योंका ग्रहण नहीं करता वह अनपराधी है। अपने ही आत्मद्रव्यमें बसा हुआ जो मुनि है वह कर्मोंसे नहीं बँधता, इसी विषयको स्पष्ट करनेके लिए उदाहरणपूर्वक तीन गाथाएँ एक साथ कही जा रही हैं।

थेयाई अवराहे कुव्वदि जो सोड संकिदो भमदि।
मा बज्झेज्जं केणवि चोरोत्ति जणम्हि वियरंतो ॥३०१॥

जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको दु जणवए भमदि।
णवि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जइ कयावि ॥३०२॥
एवं हि सावरा हो बज्झामि अहं तु संकिदो चेया।
जइ पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि ॥३०३॥

अपराधमें बन्धन—जो पुरुष चोरी आदिक अपराधोंको करता है वह पुरुष शंकित होता हुआ यत्र तत्र भ्रमण करता है। मैं किसीके द्वारा गिरफ्तार न हो जाऊँ, ऐसा वह चोरी करने वाला पुरुष शंकित होकर वन-वनमें भटकता है। देखो आज तक कोई डाकू या चोर कोई श्रीमंत बन सका क्या? डाकुवोंने लाखों रुपये हाथमें लिए होंगे, पर उनके पास ज्योंकी त्यों बात है, कोई वृद्धि नहीं है और शंकित होकर जंगलमें, गुफावों में यत्र तत्र भ्रमण करते हैं। क्या हो गया? परद्रव्योंका ग्रहण किया। इसी प्रकार यह जीव अपने आत्मतत्त्वके सिवाय अन्य परमाणु मात्र जो परमें उपयोग फँसाता है, दृष्टि लगाता है, समय व्यर्थ खोता है, अपने आपका ज्ञानबल घटाता है, कर्मोंसे बंधको प्राप्त होता है वह बँध जाता है।

परका अङ्गीकरणरूप मूल अपराध—भैया! प्रभु हैं साहु, और जब तक वह प्रभुता नहीं मिली, सम्यक्त्व नहीं जगा तब तक है जीव परमार्थ से चोर। आत्माके हाथ नहीं; हाथोंसे कोई चीज उठाये। उसके पास तो ज्ञान है। ज्ञानसे दूसरेकी चीजको अपना मान ले यह उठाना हुआ परका, इस वृत्तिमें जो रहता है वह कर्मोंसे बँधता है और जन्म मरणकी परम्परा बढ़ाता है। आजका समय माना जाय कि गृहस्थजनोंके लिए संकटका समय है, कितना बड़ा संकटका आज समय है कि रुपयेके सेर भरके गेहूं मिलें, कमाईकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं, सरकारके कानून बदलते रहते हैं। ऐसे जमानेमें भी, स्थितिमें उदयके अनुसार तो हो ही रहा है किन्तु इस परिषहका विजय करते हुए किसी क्षण यदि अपने आत्माके सहज स्वरूपकी दृष्टि होती है तो उससे कुछ शांति अवश्य प्राप्त होती ही है।

विपदामें धर्मप्रसेवाके कर्तव्यका एक उदाहरण—एक धर्मात्मा पुरुष था सो रोज पूजा करे, और बड़ी भक्तिसे अपना धर्म पालन करे। अब बहुत वर्षोंके बाद आफतों पर आफतें आ रही हैं। धन घट गया, परिवार घट गया, अनेक आपत्तियां छायी हैं, ऐसी स्थितिमें उस धर्मात्मा पुरुषको क्या करना चाहिए? धर्ममें तो असफल हो गया ना, तो इसे छोड़ देना चाहिए और क्या करना चाहिए? धर्मको छोड़कर चोरी, छल, दगाबाजी इन ही बातोंमें लग जाना चाहिए। यहां होगा शायद सुख, पर ऐसा ठीक

नहीं है। जैसे कोई राजा करोड़ों रुपये महीनेका खर्च करता है। इसलिए कि मुझपर आक्रमण कोई न कर सके, मेरा राज्य न कोई लूट सके। वर्षों तक खर्चा उठा लेता है, पर कदाचित् मानलो उस राजा पर कोई आक्रमण कर दे तो उस राजाको क्या करना चाहिए? क्या यह करना चाहिए कि सेनापतिको बुलाए और कहे कि ऐ सेनापति! आजसे हमारा सेनासे सम्बन्ध टूटा, हम कुछ नहीं जानते? क्या ऐसा कह देना चाहिए? यदि वह ऐसा कह देता है कि अब यह सब सेना व्यर्थ है, सब झगड़े हटाओ तो उसे कौन बुद्धिमान् कहेगा? कुछ भी बुद्धिमानी नहीं है। जहां अरबों रुपया खर्च कर दिया वहां लाख रुपये खर्च करके सेनामें वह उत्साह बढ़ाये और सेनाको लड़नेके लिए भेज दे तो विजय हो जायेगी और विजय हो जायेगी तो वर्षोंका व्यय सब सफल हो जायेगा।

विपदामें धर्मप्रसेवाका कर्तव्य—इसी तरह धर्म करते हुए यदि दुःख आता है, आपत्ति आती है तो उस काल जरा और दृढ़ हो जाइए। जरा सी हिम्मत करनेकी बात है, फिर सब योग्य वातावरण और शांतिका साधन मिलेगा। दुःख कैसे आते हैं उन्हें, जो धर्म पर चलते हैं? जो पहिलेसे ही विषय कषायोंमें आसक्त बने हुए हैं, उन्हें दिखनेमें तो कोई कष्ट नहीं है। क्या कष्ट है? जो नियमसंयमसे चलते हैं उसे आते हैं कष्ट और जो नियमसे नहीं चलते उन्हें क्या कष्ट आयेंगे? सो भैया! एक तो मोहमें कष्ट पहिले ही लगे हुए हैं। उनकी जानकारी ही नहीं है।

संतोषका उपाय इच्छानिरोध - जो रात्रिको पानी नहीं पीते, जो २४ घंटेमें एक बार ही पीते। अब गर्मीके दिनोंमें लोगोंको यह दिखेगा कि कष्ट इसको है, संयमीको। अरे ऐसे लोगोंको क्या कष्ट कम है कि सोते हुए भी चारपाईके सिरहने पर सरके ऊपर पानीसे भरी हुई सुराही धरी हुई है। सो आंखें मिची हैं, झट सुराहीका गला पकड़ा और अपने गिलासमें भरा और पी गये। उनको क्या कष्ट नहीं है? है कुछ कष्ट। दिन रातमें पचासों बार पानी पीने वालोंको इतनी गुस्सा आती है गर्मी के दिनोंमें कि पेटमें पानी तो भरा है लबालब, एक घूँट भी जानेकी गुन्जाइश नहीं है फिर भी चाहते हैं कि खाना पानी और भी पेटमें भर लें। और जो यह जान कर कि हमें पानी नहीं पीना है, सो खायेगा संभल कर जितने में प्यास न लगे और संतुष्टरूपसे अपनी इच्छावोंको शांत करें वह तृप्त रहता, है।

पुरुषार्थीके परीषहोंका सामना—एक शायरने कहा है कि— 'गिरते हैं शहसवार ही मैदाने जंगमें, वह तिफ्ल क्या करेगा जो घुटनोंके बल चले।' गिरते वे हैं जो ऊँचे घोड़े पर बैठकर चलते हैं, वे क्या गिरेंगे जो घुटनों

के बन चम रहे हैं लुड़क रहे हैं, उनको क्या लगेगा ? कितना कठिन देह का बन्धन लगा है और कर्मोंका बंधन लगा है। इस बंधनसे मुक्त होनेका उपाय क्या असंयमसे हो सकेगा ? मान लो इस मनुष्यभवका सुख लूट लिया, स्वच्छन्द मन बनाकर, अब मरनेके बाद पेड़ पौधे हो गए, कीड़ा मकौड़ा हो गया, निगोद हो गया। अब क्या करेगा यह जीव ? तो यह आत्मा अपने ही आत्मद्रव्यमें संवृत रहे, संयत रहे और अपनेमें अपने को अकेला समझे, अकिंचन जाने, अपने ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें ग्रहण करे तो इसे संकटोंसे छूटनेका मार्ग मिलेगा। ऐसी भावना भावो कि हे नाथ मुझमें वह बल आए कि मैं सिवाय निज चैतन्यस्वरूपके अन्य किसी भी परमें दृष्टि न लगाऊँ, ऐसी भावना अपने आपमें कीजिए।

अवसर न खोवो—भैया ! सफलता कब होगी ? देखा जायेगा जब होगी तब होगी, किन्तु कितनी ही उम्र गुजर गई हो, कितने ही अशुद्ध भावोंमें पग गये हों, फिर भी सुधरनेका उपाय है तो वह प्रभु भक्ति और ज्ञानमार्ग। जब चेतो, जब करो तभी भला है। सो जैसे गरीब को कोई निधि मिल जाय तो खूब लूटने की कोशिश करता है। इसी तरह इस संसारके इस गरीबको यदि आज जैन सिद्धान्तके किरणोंकी निधि मिल रही है तो उसे खूब लूटो। अपने हृदयमें खूब बसावो। विषयोंकी भावना न बसाकर वस्तुकी स्वतंत्रता का स्वरूप बसावो। सब अपनी-अपनी चेष्टा करते हैं, कोई किसी पर न दया करता है, न राग करता है, न अहसान करता है, सब अपने-अपने कषायकी चेष्टा करते हैं, इसलिए परकी ओर अन्तरसे आकर्षित मन होवो।

मात्र दृष्टिपर सार व असारके लाभकी निर्भरता—जो परकी ओर मन झुकाता है वह ही तो रागसे बँधता है और अव्यक्तरूपमें कर्मोंसे बँधता है। जो परद्रव्यके ग्रहणका अपराध नहीं करता वह निःशंक होता हुआ अपने आत्माको निधियोंका संचय कर रहा है। छोटी चीज छोड़ेंगे तो बड़ी चीज मिलेगी और छोटी चीजसे ही नेह लगावेंगे तो बड़ी चीजसे हाथ धोवेंगे। तुच्छ विषयोंमें रमेंगे तो शांतिकी साधिका भगवती प्रज्ञाके प्रसादसे वञ्चित रहेंगे और उस तुच्छसे हटेंगे तो इस भगवती प्रज्ञाका प्रसाद पा लेंगे। तुच्छ और महान्—ये दोनों बातें पाना आपकी दृष्टिरूपी हाथकी बात है।

सारकी दृष्टिमें ही बुद्धिमानी—भैया ! दृष्टि करने भरसे रत्न मिलता है और विष मिलता है। अब जो मर्जी हो उसे ग्रहण कर लो। आपके आगे खलीका टुकड़ा और रत्नका टुकड़ा दोनों ही रख दें और कहें कि जो मांगोगे सो मिलेगा। अगर आप खलीका टुकड़ा मांग बैठते हैं तो

तीसरा देखने वाला कोई आपको बुद्धिमान् न कहेगा। केवल दृष्टि देनेके आधारमें शांति भी मिल सकती है और अशांति भी मिल सकती है। अब तुम जो चाहो, जैसी दृष्टि करो वही चीज मिल जायेगी। तो बुद्धिमानी यह है कि ज्ञानियोंसे नेह जोड़ें, सज्जनोंको मित्र मानें, उनमें पैठ बनाएँ। इस जगतकी तुच्छ वस्तुवोंसे उपेक्षा करें, यह वृत्ति होगी तो शांतिका मार्ग मिलेगा।

अपराधी व निरपराधीकी सशंकता व निःशंकता—यदि कोई किसी प्रकार अपराध नहीं करता तो वह निःशंक होकर अपने नगरमें भ्रमण करता है। मैं बँध जाऊँगा, गिरफ्तार हो जाऊँगा, किसी प्रकारकी कोई चिंता नहीं उत्पन्न होती। इसी तरह जो अपराधसहित पुरुष है उसको तो 'मैं बँध जाऊँगा' इस प्रकारकी शंका रहती है और जो निरपराध पुरुष है वह निःशंक रहता है। मैं न बँधूगा—इस प्रकारका उसका शुद्ध प्रवर्तन रहता है। स्पष्ट बात यह है कि इस लोकमें परायी चीजको ग्रहण कर लेना परस्त्रीस्नेह करना आदि यह हुआ एक अपराध। इस अपराधको कोई करता है तो उसको बँधनेकी शंका हो जाती है और जो अपराध नहीं करता उसको बंधनेकी शंका नहीं होती है। इसी तरह जो भी आत्मा अशुद्ध होता हुआ परद्रव्यको ग्रहण करनरूप अपराधको करता है उसके बँधने की शंका हो जाती है और जो अपनेको उपयोगमें लेता हुआ केवल निजस्वरूप मात्र ग्रहण करता हुआ जो किसी भी परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता, अपराध नहीं करता तो सर्वप्रकारके परकीय भावके त्यागपूर्वक उसका शुद्ध आत्मा ही ग्रहणमें आता है।

निरपराधता—एक चैतन्यमात्र यह आत्मा अपने ग्रहणमें आए तो इसको ही निरपराध कहते हैं। यहां बात यह चल रही है कि यह जीव बंधमें जो पड़ता है सो खुद ही अपने आपको रागद्वेषमोह भावको उत्पन्न करके पड़ता है। कोई पुरुष राग नहीं करता, परवस्तुविषयक द्वेष नहीं करता, मोह नहीं करता, फिर भी बँध जाता हो सो कोई उदाहरण बतलावो। जो कोई बँधता है, दुःखी होता है सो अपनी इस करतूतके कारण होता है। सब जीव जब एक समान हैं तो इन जीवोंमें से एक दो तीन जीवोंको ही क्यों छांट लिया गया कि ये मेरे सब कुछ हैं और बाकी समस्त जीवोंकी उनके स्वरूपकी अवहेलना क्यों की जा रही है? यह ही इस जीवका महान् अपराध है जो अपने आपको भूलकर परवस्तुवोंमें राग, द्वेष, मोह करता है। जो इतना महान् अपराध करता है अपने चैतन्य महाप्रभुका तिरस्कार करता है उसको कितना बंधन होना चाहिए, कितना उसे दंडित होना चाहिए, इसका अनुमान कर सकते हो।

मान्यताकी सावधानी—जो जीव रागादिक भावोंको स्वीकार करता है कि यह मैं हूं, वह तो बँधता है और जो अपनेको यह स्वीकार करता है कि चेतन स्वभाव मात्र हूं, वह संकटोंसे छूटता है। अपने आपके बारेमें हम कैसे मानें कि हम बँध जायें, संकटोंसे घिर जायें और अपने आपके बारेमें हम अपने आपका कैसा मानें कि संकटोंसे मुक्त हो जाएँ। ये दोनों ही बातें अपने आपके निर्णयपर निर्भर हैं। अब देख लीजिए कि कितना सुगम उपाय है संसारके संकटोंसे मुक्त होनेका। न इसमें बड़ा कहलवाने की आवश्यकता होती है, न इसमें बड़े समारोहोंकी आवश्यकता होती है। यह तो केवल अपनी दृष्टि पर निर्भर है। मैं अपनेको कैसा मानूँ, बस इस ही निर्णय पर सारे निश्चय हैं।

निःसंकट स्थिति—जो पुरुष इन इन्द्रियोंके द्वारा देखेगा, शरीररूप अपने को मानता है, मैं यह मनुष्य हूं अथवा मैं परिवार वाला हूं, धन वाला हूं इस प्रकार जो अपने आपको मानता है उसके नियमसे अनेक कल्पनाएँ जगेंगी। और उन कल्पनाओंसे संकट पाना होगा और जिसको अपने आपका ऐसा श्रद्धान है कि मैं एक चैतन्यमात्र पदार्थ हूं, मूलमें जिसे अपने आपके सहज चैतन्यस्वरूपका अनुभव है वह पुरुष संकटोंसे नहीं घिरता, वह निरपराध होता है। उसे कर्मबंध नहीं होता, अथवा किसी प्रकारका संक्लेश नहीं होता। जिनके भोगोंकी आकांक्षा बनी हुई है उनको अनेक प्रकारकी शंकाएँ होती हैं और जिनके कुछ निदान नहीं होता है, अपने आपके कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे रहित केवल चैतन्यमात्र ही निरख रहा हो उसके लिए न संकट हैं, न बंधन हैं।

इच्छाके अभावमें सर्वसिद्धि—भैया! आत्मानुशासनमें लिखा है कि ये कर्म किसके लिए कर्म हैं? जो जीनेकी आशा रखते हों, धनकी आशा रखते हों उनके लिए ये कर्म कर्म हैं और जो न धनकी आशा रखते हों, न जीवनकी आशा रखते हों, तो कर्म तो ज्यादासे ज्यादा यहां तक ही तो पहुंच पाते हैं कि वे धन और जीवनमें बाधा डाल दें, पर जो धन जीवन की आशा ही नहीं रखते हैं अब उनके लिए कर्म क्या करेंगे? अपने स्वरूपकी परिचयकी अपूर्व महिमा है। कहीं भी डाली-डाली पत्ते-पत्ते कहीं भी डोलते जायें, कितना ही ज्ञान करते जायें। जब तक अपने मूल का अपने को परिचय न हो। तब तक जीवको शांति नहीं मिल सकती। अपराध करता है ना जीव तो उन अपराधोंसे मुक्त होनेके लिए प्रतिक्रमण प्रायश्चित आलोचना आदि अनेक तप करना होता है और जहां इस व्यवहार धर्मके प्रसादसे अशुद्ध भावना ही नहीं, परस्वरूपमें अपना गिरना

ही नहीं है वहां तो यह बिना ही श्रम, बिना ही अन्य योजनाके सिद्ध ही होता है। उसको किसी भी प्रकारका बंधन नहीं है।

इच्छाकी हानि वृद्धिका परिणाम—कोई बच्चा है, जब तक छोटा है, शादी नहीं हुई है, स्वतंत्र है, सुखी है, निर्दोष है, पर जैसे ही उसका पाणिग्रहण होता है, कल्पनाएँ नई-नई विचित्र विचित्र दौड़ती हैं और व्यर्थ ही अपनेको क्लेशमय बनाता है और बड़ा हुआ तो भले ही अभ्यास होनेके कारण यह जीव अपनेको सुखी मानता, चैनमें मानता, बेचैनीका अनुभव न रखे पर स्वस्वरूपसे चिगकर किन्हीं परजीवोंमें लगना यह केवल आकुलताका ही कारण होता है। तो जो अपनी ओर रत होते हैं वे आकुलतावोंसे दूर रहते हैं। जो परमें निरत होते हैं उनके आकुलता ही आकुलता रहती है, ऐसा जानकर ज्ञानी संत अपने स्वरूपसे नहीं चिगते और पररूपमें निरत नहीं होते। अपराधी बनना अच्छा नहीं। अपराधी न बनोगे तो कोई संकट न होगा। अपराधी होगे तो संकट होगा। वह अपराध क्या है? उसका इन दो गाथावोंमें वर्णन है।

संसिद्धिराधसिद्धं साधिमाराधियं च एयट्ठं।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराओ ॥३०४॥
जो पुण णिरवराहो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ।
आराहणाए णिच्चं वट्टेइ अहं तु जाणंतो ॥३०५॥

क्लेशका हेतु स्वापराध—जो पुरुष दुःखी होते हैं वे अपने अपराधसे दुःखी होते हैं। दूसरेके अपराधसे कोई दूसरा दुःखी नहीं होता है. उसने ही कोई अपराध किया है इसलिए दुःखी है। अपने आपके बारेमें एक यह निर्णय रखो कि हम जब दुःखी होते हैं तो अपने ही अपराधसे दुःखी होते हैं। हम दूसरोंके अपराधसे दुःखी नहीं होते हैं। हम दुःखी होते अपने अपराधसे। हमारी दृष्टिमें जब यह आ गया कि अमुकने मेरा यों किया, मुझे यों परेशान किया, तब दुःख होना प्राकृतिक बात है। दूसरेके अपराधसे अपनेको दुःखी मानना यह सबसे विकट अपराध है। यह निर्णय रखो कि हम जब-जब भी दुःखी होते हैं अपने ही अपराधसे दुःखी होते हैं, दूसरेके अपराधसे मुझे दुःख हो जाय, यह तीन कालमें सम्भव नहीं है।

स्वके अपराधसे ही क्लेशोंका उद्गमन—भैया! मोहमें दृष्टि जहां परकी ओर की, विकल्प किया कि मैं तो बड़ा पवित्र हूं, शुद्ध हूं, बुद्धिमान् हूं, ज्ञानी हूं और देखो मुझे दूसरेने यों सताया और मुझे दुःखी कर दिया। अरे दूसरेके द्वारा सताये जानेसे हम दुःखी कभी होते ही नहीं हैं। हम ही अपने प्रभुको सताते हैं और दुःखी होते रहते हैं। कोईसा भी दुःख ढूँढ़कर निकाल लो कि जिसमें आप यह पा सको कि मैं तो दूधका

धोया जैसा स्वच्छ हूं, कुछ अपराध ही नहीं करता हूं, और दूसरे लोग मुझे व्यर्थ हैरान करते हैं। कोई एक घटना बता दो समस्त दुःखोंकी घटनावोंमें आपने अपना ही कोई अपराध किया इसलिए दुःखी हुए और ज्यादा अपराध न देख सकें तो कमसे कम इतना अपराध तो आपका है ही कि हम हैं अपने स्वरूपमात्र और असली स्वरूपको भूलकर हम अपने को नानारूप मान लेते हैं, बस लो, यही अपराध हुआ।

परभावमें निजमान्यताकी महाभूल— कल्पना करो कि कोई पुरुष अपनी बड़ी सदाचार वृत्तिसे रहता है, किसीका कोई बिगाड़ नहीं करता है, फिर भी लोग उसके प्रति अपमान करनेकी चेष्टा करते हों, उसे लोक में गिरानेकी चेष्टा करते हों तो वहां तो यह कहा जा सकता है कि यह मनुष्य तो कुछ भी नहीं कर रहा है और इसे लोग यों ही हैरान करते हैं, तब तो हुई ना दूसरोंके हैरान किए जानेसे हैरानी। पर चित्तको समाधान में रखकर यह भी तो देखो कि दूसरों के हैरान किए जाने से हम हैरान नहीं होते, किन्तु अपने आपके बारेमें कुछ सन्मान रूप निर्णय कर रखा है, और वैसा होता नहीं तो हम दूसरेका अपराध जानकर दुःखी हो रहे हैं, मेरे खिलाफ ऐसे लोग हैं और वे मुझ निरपराधको व्यर्थ ही सताया करते हैं। अरे हम खुद ही अपने सहजस्वरूपको भूलकर रागादिक भावों को अपना रहे हैं इसलिए दुःखी हैं।

निजश्रद्धाका प्रताप—भैया! ज्ञानी पुरुषकी ऐसी स्थिति होती है कि गृहस्थकी परिस्थितिमें उसे बाहरमें राग झंझट वैसे ही करने पड़ते हैं जैसे कि एक अज्ञानी गृहस्थ करता है। परन्तु सर्व क्रियावोंके करते हुए भी उसे अपने आपके बारेमें यह ध्यान है कि मैं तो आकाशवत् अमूर्त निर्लेप अन्य सबसे विविक्त केवल चैतन्यमात्र पदार्थ हूं। तो इस श्रद्धामें ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ है कि वह अन्तरमें दुःखी नहीं है। बाहरमें कार्य सब करने पड़ते हैं। जिसको अपने आपका यथार्थ श्रद्धान् होगा उसकी ऐसी ही निराकुलता दशा होगी। उसकी पहिचान यह है कि वह लोगोंके द्वारा किसी प्रकारका अपना नाम न चाहेगा। इस मायामयी असमानजातीय द्रव्यपर्यायरूप विनाशीक इन जीवोंको वह अपने आपके बारेमें महत्त्वकी इच्छा नहीं रखेगा।

परचेष्टासे मेरा सुधार बिगाड़ असंभव—इस लोकमें यदि १०-२० हजार पुरुषोंने कुछ मेरा नाम लेकर बड़प्पन बना दिया तो उन पुरुषोंकी चेष्टासे इस मुझ आत्मामें कौनसा सुधार हो गया? बल्कि उस चेष्टाको निरखकर हम उसमें मोह कर सकते हैं और अपने आपको दुःखी कर डालते हैं, कर्मबंध कर डालते हैं। सारा जहान भी यदि नाम लेकर मेरा अपयश

करे, उन सबकी चेष्टाके बावजूद भी इस अमूर्त मुक्त आत्माका कौनसा बिगाड़ होता है ? यह ज्ञान जिनका सही रूपमें टिका हुआ है उनको विपत्ति नहीं आती है। जब अपने इस शुद्ध ज्ञानसे चिग जाता है तो स्वयं दुःखी होता है। अतः दुःख मिटानेके लिए यथार्थ ज्ञानका यत्न करना चाहिए, न कि बाह्य पदार्थोंके संचयकी धुनि बनानी चाहिए। चीज असल में यों है, पर मोही मानव अपने यथार्थ उपायको तो करता नहीं और एकदम धनसंचय, लोगोंको प्रसन्न रखनेकी चेष्टावोंमें ही अपना समय गुजारता है, यही अपराध है।

अपराधका अर्थ—अपराध शब्दका अर्थ क्या है—राध या राधासे जो अपगत है, मायने बाहर हो गया है। राधा कहिए, आत्मसिद्धि कहिए—राध् धातुका आत्मसाधन अर्थ है। जो अपने राधासे विमुख हो गया वह पुरुष अपराधी है। अपगतः राधः अस्मात् स अपराधः। जिस आत्मामें आनन्द सिद्धि नहीं है, आत्माकी दृष्टि नहीं है उस पुरुषको अपराधी कहते हैं। राधा का अर्थ है परद्रव्यका परिहार करके शुद्ध आत्माको ग्रहण करना इसे कहते हैं राधा। और ऐसी राधा जब नहीं रहती है तो उसे कहते हैं अपराधी। जब-जब अपने यथार्थस्वरूपकी दृष्टि नहीं है तब तक हम अपराधी हैं और ऐसा अपराध जब तक रहेगा तब तक हम दुःखी ही रहेंगे। यह अवस्था परिग्रह और आरम्भ वालेमें शोचनीय है। यहां तो बार-बार सर्व प्रकारकी दृष्टियां हुआ करती हैं। लोकमें अपनी कुछ इज्जत बनी रहे तो गृहस्थी चलती है, न इज्जत रहे तो गृहस्थी नहीं चलती व्यापार नहीं चलता। लोगोंको गृहस्थीके ऊपर कुछ विश्वास बना रहता है तो उसका काम चलता है। सो यद्यपि इस गृहस्थावस्थामें इज्जतको कायम रखना भी बहुत आवश्यक है, पर यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि रात दिनके समयोंमें किसी भी एक मिनटके समय तो हम अपनेको सारे जगतसे न्यारा केवल चैतन्यस्वरूप मात्र अनुभव करें, यह भी बहुत आवश्यक है।

आत्मविमुखतासे बिगाड़—भैया ! यदि सबसे विविक्त चैतन्यमात्र अपनेको नहीं देख सकते हैं आधा मिनट भी तो सारे दिन रात आकुलता में ही व्यतीत होंगे। सो यह जीवोद्धार वाली बात इस जीवको प्रधान होनी चाहिए। व्यवहारमें यदि कुछ फरक आ गया तो उससे बिगाड़ न होगा, किन्तु अपने आत्मदर्शनसे विमुखता हो गयी तो उसमें बिगाड़ स्पष्ट भरा हुआ है। ७२ कलावोंमें दो ही कलाएँ मुख्य हैं—एक आजीविका करना और दूसरे अपना कल्याण करना। आजीविका करना और दूसरे अपना कल्याण करना। आजीविका या धनसंचयमें हमारा आपका

बस नहीं। उदय अनुकूल हो तो होता है, न अनुकूल हो तो कितना ही श्रम करनेके बाद नहीं होता है। धनसंचय करना हमारे हाथकी बात नहीं है, यह पूर्वोपार्जितकर्मके उदयका फल है तो उसमें हम अपनी बुद्धि क्यों फंसायें? बजाय उसके कुछ यों दृष्टि दें कि उदयके अनुकूल जो कुछ भी मिले, उसके अन्दर अपना विभाग बनाकर गुजारा कर सकते हैं, इसमें हमारी क्षमता है।

धर्मसाधनाकी स्वाधीनता— यह धर्मसाधन हमारे वशकी बात है, उपयोगके आधीन बात है। सो अपने उपयोग द्वारा अपने आपको केवल ज्ञातादृष्टारूप मानें, देखें तो वहां चिंता और व्याकुलता फिर नहीं रहती है। बस, अपने स्वरूपसे चिगे यही अपराध है। यह अपराध जिस जीवके होता है, वह स्वयं दुःखी होता है, क्योंकि उसके उपयोगमें परद्रव्योंको ग्रहण करनेका परिणाम बना हुआ है—जैसे कि मेरी इज्जत हो आदि। यह इज्जत मेरा भाव नहीं है, परभाव है। उस परभावको हम अपनाते हैं तो दुःखी होते हैं। मैं बड़ा धनिक बनूँ—ऐसा परिणाम परभाव है। इस परभावको हम अपनाते हैं तो कष्टमें पड़ना प्राकृतिक बात है।

धर्माराधनाकी प्रमुखता— यह धर्मका प्रकरण है। आजीविकाकी बातको तो एक ही बातमें गर्भित करना, उदय होगा तो होगा। उदय अनुकूल है तो बुद्धि भी चलती है, श्रम भी सफल होता है और उदय अनुकूल नहीं है तो सब चीज बेकार हो जाती है। न बुद्धि चलती है, न श्रम होता है। ये सब संसारकी घटनाएँ हैं। संसारकी घटनाओंमें कर्ममें विपाक प्रधान है, किन्तु मोक्षमार्गके चलनेमें मेरे आत्माका पुरुषार्थ प्रधान है। इसीसे शाश्वत् स्वाधीन सुख मिलेगा और यह संसारमार्ग मुझे आकुलताओंमें फंसाकर केवल जन्म मरणके चक्करमें फंसायेगा। ऐसा जानकर ज्ञानी-पुरुष अपराध नहीं करता है, अपने आपकी ओर अपने आपको बनाए रहता है। मैं तो केवल शुद्ध ज्ञातादृष्टा हूं, भाव ही मैं बना लूँ इतना ही मात्र मैं कर्ता हूं, इतने ही मात्र मैं भोक्ता हूं, मैं परका करने भोगने वाला नहीं हूं—ऐसा जो निरपराध रहता है, उसको संकट और बंधन नहीं आते हैं।

मूल अपराध सहजस्वरूपकी आराधनाका अभाव— जो आराधना करता है वह बंधनमें नहीं पड़ता है। यह जीव कर्मोंके विकट बंधनमें पड़ा है, इसका कारण है कि यह जीव अपराध कर रहा है। क्या अपराध कर रहा है? आत्माके शुद्धस्वरूपकी आराधना नहीं कर रहा है। जो अपने आपको ज्ञानभावके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मानता है, वह उसका मूलसे ही विशाल अपराध है। मैं मनुष्य हूं, मैं स्त्री हूं, मैं धनिक हूं, मैं दुर्बल हूं,

मैं मोटा हूं, मैं तगड़ा हूं, इतने परिवार वाला हूं, अमुक-अमुक संस्थाका मेम्बर हूं, अमुक प्रबंधक हूं, मिनिस्टर हूं, देशकी रक्षा करने वाला हूं इत्यादि किसी भी प्रकारसे अपने आपको मानता है तो वह अपराधी है और इस अपराधके फलमें उसे बंधना पड़ता है। सुननेमें ऐसा लगता होगा कि यह क्या अपराध है ? हम किसी कमेटीके मेम्बर हैं—ऐसा मानते हैं तो इसमें अपराध क्या हो गया ? अपराध ये हैं कि तुम कमेटी के मेम्बर नहीं हो, तुम देशके रक्षक नहीं हो, तुम परिवार वाले नहीं हो, तुम धनी नहीं हो और मानते हो कि मैं यह-यह हूं—यही तो अपराध है।

सम्यग्ज्ञानकी विशेषता— भैया ! जैनसिद्धान्तमें सबसे बड़ी विशेषता है तो वस्तुका यथार्थस्वरूप वर्णन करनेकी विशेषता है। पापको तो सभी कहते हैं कि छोड़ना चाहिये। पुण्य और परोपकारको तो सभी कहते हैं कि करना चाहिये, तुम भी कहते हो कि करना चाहिये। घरका त्याग करके संन्यासी बननेको तो सभी कहते हैं, तुम सब भी कहते हो कि बनना चाहिए। पर वह कौनसा ज्ञान है, जिस ज्ञानके होने पर संसारके संकट टलते हैं, प्रेक्टिकल अपने आपमें शांति मिलती है ? कौनसा ज्ञान है वह ? वह ज्ञान वस्तुस्वरूपका यथार्थ वर्णन करने वाला सम्यग्ज्ञान है। तुम क्या हो ? इसका जरा निश्चय तो करो।

परभावमें अहम्मन्यताका अनर्थ— धनिक तो तुम हो नहीं, क्योंकि धन विनाशक वस्तु है, आता है और चला जाता है, प्रकट पर है। धनके कारण ही तो दूसरोंके द्वारा सताये जाते हैं। डाकू ले जायें आपको जंगल में, तो देखकर परिवार वालोंको दुःख होगा हो। चोर चोरीकी धुन लगाये रहते हैं, सरकारकी तिरछी निगाह बनी रहती है, विरोधी भी ईर्ष्यासे मेरा बिगाड़ करनेका यत्न किया करते हैं। धन कौनसी सुखद और आपकी वस्तु है ? धनिक आप नहीं हैं, यह तो बाह्यपुद्गलोंका समागम है। शरीर भी आप नहीं है, शरीर आप होते तो यह आपके साथ जाता। शरीर यहीं रहता है, आप छोड़कर चले जाते हैं। जब शरीर आप नहीं रहे तो आप पुरुष कैसे ? पुरुषाकार तो शरीरमें ही है। जब शरीर ही तुम नहीं हो तो पुरुष और स्त्री कहां रहे ?

प्रत्येक वस्तुकी परमें कर्तृत्वकी अयोग्यता—भैया ! तुम तो सबसे न्यारे केवल चैतन्यमात्र हो। अब रही करनेकी बात। तो करनेकी बात भी विचार लो। तुम क्या करते हो ? कोई कहता है कि हम दूकान करते हैं, सेवा करते हैं, देशकी रक्षा करते हैं। दूकान और रक्षा तो बाहर जाने दो, तुम तो यह हाथ भी नहीं उठा सकते हो, जो तुम्हारे देहमें लगा हुआ

हाथ है। आप कहेंगे कि वाह, उठ तो रहा है। यह भ्रम है आपको। आप आत्मा एक ज्ञानपुञ्ज हो। अन्तरमें देखो तो तुम ज्ञानके पिंड हो। जो ज्ञान है, ज्ञानघन है, वही तुम आत्मा हो। मेरा स्वरूप आकाशकी तरह है। अन्तर यह है कि आकाशमें चेतना नहीं है, आपमें चेतना है। आकाश निस्सीम पड़ा हुआ है और आप निज देहबंधनके कारण अपने देहमात्रमें हो—इन दो बातोंमें अन्तर है, बाकी तो अमूर्तमें जैसा आकाश है तैसे आप हैं। न आकाशमें रूप, रस, गंध, स्पर्श है और न हम आपमें रूप, रस, गंध, स्पर्श है।

आत्मामें मात्र स्वपरिणामका कर्तृत्व— भैया! तुम तो केवल जाननहार हो और उपाधिभावमें विकारभाव आता है, सो वर्तमानमें इच्छाके भी करने वाले हो। इतनी ही मात्र हम और आपकी करतूत है कि जान जायें और चाह करने लगें। इससे आगे हमारा वश नहीं है। अब इससे आगे अपने आप निमित्तनैमित्तिक भावके कारण पुद्गलमें अपने आप काम होता है। लोग कहते हैं कि यह मशीन ओटोमेटिक है, अपने आप छापती है और अपने आप छापे हुए कागजोंको एक जगह रखती है। ऐसा सर्वथा ओटोमेटिक नहीं है, उसमें निमित्तनैमित्तिक सम्बंध लगा हुआ है। इस पुर्जेके जोड़का निमित्त पाकर वह पुर्जा यों चला, उसका निमित्त पाकर वह पुर्जा यों चला, उसके प्रसंगमें कागज आया तो उसका यह कार्य हुआ। निमित्तनैमित्तिक संबंध न लगा हो और कोई अकेले ऐसा करले—ऐसा वहां नहीं है।

स्वरूपकी समझ बिना धर्मकी दिशाका भी अपरिचय— आत्मामें इच्छा और ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका निमत्त पाकर आत्मप्रदेशमें हलनचलन होता है। उस प्रदेशमें परिस्पंदका निमित्त पाकर शरीरमें जो वायु भरी है, उस वायुमें लहर चलती है और वायुके चलनेसे शरीरके अंग उठते हैं। तो यों हाथ निमित्तनैमित्तिक सम्बंधसे उठ गया, पर इसका जुटाने वाला साक्षात् आत्मा नहीं है। आत्मा तो सिर्फ ज्ञान करता है और चाह करता है। इसके आगे आत्माकी करतूत नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और परका अकर्ता है—ये दो बातें समझनेकी हैं। धर्मपालन करनेके लिये हैं। ये दो बातें समझमें न आएँ तो खेदके साथ कहना होगा कि धर्मपालन करनेके लिए इतना बड़ा परिश्रम भी किया जाता है—नहाना, धोना, समारोह करना, बड़ा प्रबंध करना, बड़े-बड़े श्रम भी कर लिए जायें तो भी मोक्षमें जानेके नाते, मोक्षमार्गके नाते उसने रंच भी धर्म नहीं किया।

धर्मके मूल दो परिज्ञान— भैया! इन दो बातोंको खुद समझलो कि

इतनी बात है और सारभूत बात है। एक तो यह जानलो कि मैं तो केवल ज्ञानका पिटारा हूं, चैतन्यमात्र हूं, इसके अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं हूं। मेरा स्वरूप ही मेरा है, मेरे चैतन्यस्वरूपसे अतिरिक्त अन्य कुछ परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। एक बात तो यह प्रतीतिमें रखलो। क्या हर्ज है यदि सही बात जानने लगें? घर नहीं कोई दूसरा छुड़ा रहा है, कोई धन-वैभव नहीं छुड़ाया जा रहा है, वह तो जैसा है सो होगा। जो परिणमन होना होगा वह होगा, पर यथार्थ बात विश्वासमें लेनेसे मोक्षमार्ग मिलेगा, कर्म कटेंगे, बंध रुकेगा, दृष्टि मिलेगी, इस कारण एक सही बात माननेमें कौनसी अटक अनुभव की जा रही है? बीचके सर्वपदोंको तोड़कर एक अपने यथार्थस्वरूपके ज्ञानमें आओ। दूसरी बात—इसका निर्णय करलें कि वास्तवमें मैं करता क्या हूं? मैं केवल जानना और चाहना—इन दो बातोंको किया करता हूं। चाहनेके उपलक्षणमें सर्वविकल्प गर्भित हैं।

सम्यग्ज्ञानकी आराधनासे प्रभुभक्तिकी सफलता— विकल्प करना और जानना—ये दो बातें वर्तमानमें किया करता हूं। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करता हूं। ऐसा यदि विश्वासमें मान सकते हो तो समझो कि हमने प्रभुभक्तिमें कुछ पाया, अन्यथा प्रभुके गुण गाते रहें और भीतरमें यह ज्ञान बना रहे कि मैं तो जो चाहूं, सो कर सकता हूं। मैं भींत उठा लूं, दूसरेको बरबाद कर दूं, दूसरेको सुखी-दुःखी करदूं, यह विश्वास बना रहो तो समझो मैं प्रभुका एक रत्ती भी भक्त नहीं हूं। प्रभुके गुण समझमें न आयें और प्रभुके हम भक्त कहला सकें, यह तो हो ही नहीं सकता। प्रभुका गुण क्या है? वह कृतकृत्य है, सर्वपदार्थोंसे विविक्त है, अपने स्वरूपमात्र है, जिसने अपने उपयोगको केवल अपने स्वरूपमें रमाया और यह सारभूत कार्य किया, वही तो प्रभु है और जैसा प्रभुका स्वरूप है तैसा ही हमारा स्वभाव है। मेरे भी ऐसा होने लायक स्वभाव है, जब तक यह विश्वास नहीं है तो प्रभुका और भक्तका सम्बन्ध ही नहीं है। तो ये दो बातें बहुत दृढ़तासे अपने निर्णयमें रहें तो हम अपराधी नहीं हैं।

स्वभावविमुखतारूप महा अपराध— भैया! कोई पुरुष अच्छे धन वाला है, स्त्री-पुरुष दोनों हैं, अपने घरमें रहते हैं, किसीको सताते नहीं, किसीसे लेन-देन नहीं, ब्याज और किरायेसे ही सब काम चलता है, बड़े प्रेमसे रहते हैं। इस प्रकार रहने वाले गृहस्थ यह सोचें कि मैं तो किसीका कोई अपराध नहीं कर रहा, न किसी आदमीको सताता हूं, न किसीकी बुराई करता हूं और न किसी प्रकारकी उद्दण्डता करता हूं, मियां-बीबी घरमें रहते हैं, मौज करते हैं, तीसरा कोई झगड़ा नहीं, न बच्चोंका और न

किसीका। मैं तो बेकसूर हूं—ऐसा कोई गृहस्थ माने तो बतलावो क्या वह बेकसूर है? वह अपराधी है, क्योंकि उसने ये दोनों ही बातें नहीं मानीं। मैं तो स्त्री वाला हूं, इतने वैभव वाला हूं, जो यह भोगता है, आराम पाता है, यह मैं हूं, अच्छी स्थितिमें हूं—ऐसा अज्ञान अंधकारमें पड़ा हुआ है। घरकी अच्छी व्यवस्था बना रहा हूं, सब खर्च और आजीविका ठीक निभ रही है—ऐसी कर्तृत्वबुद्धि लगाए है, उसे निरपराध कोई कह सकता है क्या?

परपरिहारीके निरपराधता— निरपराध पुरुष वह है जो अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी आराधना कर रहा हो। ऐसा पुरुष शुद्ध आत्माके प्रति दृष्टि होनेसे बंधभावसे रहित है और वह शांतिका पात्र है, किन्तु जो परद्रव्योंको अपनानेमें लगा है, उसके केवल चैतन्यस्वरूपमात्र आकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्दघर आत्मतत्त्व पर दृष्टि नहीं है। सो ओटोमेटिक निमित्त-नैमित्तिक भाववश संसारमें पड़े हुए कार्माण वर्गणाएँ कर्मरूप हो जाती हैं और देहका बंधन, कर्मका बंधन और रागद्वेष भावोंका बंधन—ये सब बंधन चलते रहते हैं। हां, जो निरपराध पुरुष है, जो समस्त द्रव्योंका परिहार करता है, अपने उपयोग द्वारा समस्त परद्रव्योंसे न्यारा अपने आपको लखता है, उसके शुद्ध आत्माकी सिद्धि है। उपयोग द्वारा निज शुद्ध तत्त्व पर उसकी पहुंच है, सो बंधकी शङ्का नहीं है।

शुद्धात्मत्वप्रसिद्धि— भैया! वह ऐसी स्थिति क्या होती है? मैं एक उपयोगमात्र चैतन्यमात्र, जानन देखनकी वृत्तिमात्र स्वतन्त्र आत्मा हूं, ऐसा वहां निश्चय है, इस कारण सदा ही उसके शुद्ध आत्माकी सिद्धि है अर्थात् शुद्ध आत्माकी आराधना चल रही है। सो जो शुद्ध आत्माकी राधाके साथ निरन्तर चल रहा हो, वह ज्ञानी आत्मा आराधक ही है, अपराधी नहीं।

आत्मानाराधकता— अपराधी कहो या अनाराधक कहो—दोनोंका एक अर्थ है। जो अपने सच्चे ज्ञानस्वभावकी दृष्टि नहीं रखता वह अपराधी है। जो अपराधी है वह अवश्य बंधेगा। वर्तमानमें कोई मौजमें है, इसका गर्व करना व्यर्थ है। क्या मौज है संसारमें? एक घण्टा भी कोई सुखी नहीं रह सकता—किसी भी पुरुषको बता दो। आधा घण्टा भी कोई सुखी नहीं रह सकता। उसके भीतरकी कम्पनीको देख लो—मारे कल्पनाओंके सुखके बाद दुःख, दुःखके बाद सुख—ऐसी कल्पनाएँ उठा करती हैं। सो अपनी-अपनी कल्पनासे सभी अपने आपमें क्लेश पा रहे हैं। वह कल्पना मिटे—ऐसा ज्ञानप्रकाश हो तो क्लेश मिटेंगे अन्यथा न धनके बहुत होनेसे क्लेश मिटते, न इस मायामयी जगत्में मायामयी इज्जतके

होनेसे क्लेश मिटते। क्लेश मिटते हैं आत्मीय स्वाधीन अपूर्व पुरुषार्थ से। जो अपने स्वरूपका अज्ञान है वही महान् अपराध है। ऐसा अपराधी पुरुष निरन्तर अनन्तकर्मोंको बांधता रहता है।

सपराध व निरपराधकी वर्तनायें— जो अपने आपके उस सहजस्वरूप को दृष्टिमें लिए हुए हैं और जिसके यह दृढ़ प्रत्यय है कि मैं तो मात्र चैतन्य स्वरूप हूं, वह कभी बंधनको प्राप्त न होगा। कदाचित् कुछ बंधन चलता रहता है तो वह ऊपरी बंधन है, अल्पबंधन है। बांधनेके लिए बंधन नहीं है, किन्तु मुंचन रहता है। अपराधी पुरुष वह है जो अपने आपको निरंतर अशुद्ध रूपमें ही मानता रहता है अर्थात् जैसा मैं नहीं हूं, वैसा मानता रहता है। देखो, करना-धरना तो कोई बाहरमें कर ही नहीं सकता, चाहे ज्ञानी पुरुष हो, चाहे अज्ञानी पुरुष हो, पर अपनेही प्रदेशमें अपना अस्तित्व रखे हुए यह जीव जो अपने आपको अज्ञानरूप मान रहा है कि मैं रागी हूं, द्वेषी हूं, बड़ा हूं, जो मैं सोचता हूं यह विवेककी बात है, यह करनेकी बात है—ऐसा अपने आपको औपाधिक नाना भावरूप जो मानता है वह अपराधी है। जो अपराधी है वह बंधता है और जो निरपराध है वह छूट जाता है।

अपराध संकट— निरपराध वह है जो शुद्ध ज्ञान दर्शनमात्र, जानन प्रकाशमात्र अपने आपको भजता है, अपने आपकी सेवा करता है वह है निरपराधी। इस जीव पर बड़े संकट छाये हैं। वे संकट हैं विकल्पोंके। जिससे आज सम्बन्ध माना है मान लो वह गुजर जाए या स्वयं गुजर जाए तो फिर क्या रहा? जितने काल समागम भी है, उतने काल भी सबकी खिचड़ी अलग-अलग पक रही है। यह नहीं जानता कि मुझ पर इसका राग है या इस पर मेरा राग है। सर्व जीव भिन्न हैं और अपने अपने विकारके द्वारा अपनेमें द्वन्द्व मचाए हुए हैं।

मोहसंकट— भैया! सबसे बड़ा संकट है जीव पर तो इस मोहका संकट है, जो मोह बिल्कुल व्यर्थकी चीज है। मोह कर लिया तो क्या नफा कर लिया और मोह न करते तो क्या टोटा रहता? पर ऐसी उमंग उठती है अन्तरसे, अज्ञानकी प्रेरणासे कि यह अपने घरमें रह नहीं सकता। परपदार्थोंकी ओर दृष्टि बनाए रहते हैं। सो जब तक मोहमें अन्तर न पड़ेगा, तब तक शांतिकी आशा करना बिल्कुल व्यर्थ है। शांति चाहते हो तो क्रांति लाइए अपने आपमें मोक्षमार्गमें लगनेकी। दोनों काम एक साथ नहीं हो सकते कि विषयकषायोंमें भी लगते रहें और शांति भी मिलती रहे। या तो भोग भोगलो या विश्राम पा लो, शांति पा लो, मोक्षमार्ग पा लो।

जीवनकी सफलता— भैया ! यह जीवन बड़ा दुर्लभ जीवन है। इस जीवनमें यदि अपने आपके शुद्ध आत्मस्वरूपकी दृष्टि न पा ली तो बहुतसा धन-वैभव भी पा लिया, परिवार, सोना, चांदी, इज्जत सब कुछ पा लिया तो क्या ? ये सब इन्द्रजाल है, मायास्वरूप है। जो इन्द्रजालमें फंसता है वह संसारमें भटकता है। अब जो मन हो सो कर लो। मोहमें लगे रहने का फल है चिरकाल तक पशु, मनुष्य, कीड़े-मकौड़े, नारकी, पेड़-पौधे बन बनकर जन्म-मरण करिये। मोह न रहे, ज्ञानका शुद्ध प्रकाश हो, अपने आपकी वास्तविक श्रद्धा हो और उसी श्रद्धा सहित प्रभुके गुणोंकी भक्ति हो तो समझ लीजिए कि हमारा जन्म सफल है और हम शांतिके पात्र हैं, धर्ममें लगेंगे। इसलिए ज्ञानबल द्वारा मोहको दूर करनेका प्रयास कीजिएगा। बस यही मात्र श्री जिनेन्द्रदेवका धर्म उपदेश है, जीवन मार्ग है।

दोषनिवारिणी दृष्टि— इस प्रकरणमें बात यह चल रही है कि जो जीव अपने सहज शुद्ध चैतन्यस्वभावकी दृष्टि रखता है, चैतन्यमात्र मैं हूं और ऐसा ही जाननेमें उपयोगी रहता है, वह तो है निरपराध आत्मा और जो अपने स्वरूपमें अपनेको न लखकर बाह्यपरिणमनोंरूप अपनेको तक रहा है कि मैं पुरुष हूं, मैं स्त्री हूं, मैं अमुक जातिका हूं, अमुक कुलका हूं, अमुक पोजीशनका हूं आदिक रूपसे जो अपनेको देखता है वह अपराधी है। जो अपराधी होता है वह कर्मोंको बांधता है, जो निरपराध होता है वह कर्मोंसे नहीं बंधता। इस प्रकरणसे शिक्षा यह मिलती है कि धर्मके लिए, संतोषके लिए, संकटोंसे छूटनेके लिए अपना जो वास्तविक अपने अस्तित्वके कारण जैसा हूं उसी रूप अपनेको लखते रहें, इससे सर्व दोष दूर हो जायेंगे।

शुद्धात्मोपासनाका संकेत— भैया ! प्रकरण बड़े ध्यानसे सुननेका है। बीचमें यदि दो-चार वाक्योंको अनसुना कर दिया तो उससे आगेकी बात में कुछ विघ्न आ सकता है समझमें। बात क्या कही जा रही है कि जो अपने शुद्ध ज्ञानप्रकाशरूपमें अपनेको मानता है वह है बेकसूर। जो अपने को नेता, प्रमुख, कार्यकर्ता किसी भी रूपमें समझता है, वह अपराध करता है। यह है बंध और अबंधके निर्णयका प्रकरण। इसलिए क्या करना चाहिए ? शुद्ध आत्मतत्त्व की उपासना में अपना प्रकाश करते रहना चाहिए।

एक अध्यात्मजिज्ञासा— यह बात सुनकर एक जिज्ञासु बोला कि इस शुद्ध आत्माकी उपासनाके प्रयाससे क्या लाभ है ? अरे ! शुद्ध तो होता है प्रतिक्रमणसे, व्रतनियमसे, संयमसे, आलोचनासे। अपने आपको अपने

दोष पर पछतावा करना, गुरुके समक्ष अपनी त्रुटियोंकी निन्दा करना आदिक उपायोंसे शुद्धि हुआ करती है। क्या शुद्ध आत्माकी उपासना करने का उपदेश लाभ देगा? लाभ तो इस प्रतिक्रमण आदिकसे व्रत, संयम आदिकसे है। इससे ही जीव निरपराध होता है, क्योंकि जो अपराधी पुरुष है और वह प्रतिक्रमण, आलोचना, पछतावा दण्डग्रहण नहीं करता तो उसका अपराध दूर नहीं हो सकता और उसके ऐसे अप्रतिक्रमण आदिक विषकुम्भ हैं और प्रतिक्रमण करना, पछतावा करना, अपने दोष बखानना आदि ये सब अमृतकुम्भ हैं, इससे सिद्धि होती है, फिर शुद्ध आत्माकी उपासना करनेके प्रयाससे क्या लाभ होगा?

अवगमनका उद्यम-- यहां जिज्ञासु एक प्रश्न कर रहा है। प्रकरण जरा कठिन है और अध्यात्मयोगका बहुत उत्कृष्ट वर्णनमें ले जाने वाला मिलेगा, पर असली बात समझनी तो तुम्हींको पड़ेगी। कठिन है, कठिन है, ऐसा समझकर बाहर-बाहर बने रहने से अपनी चर्चासे दूर रहें, इससे तो जीवनमें कभी भी पूरा नहीं पड़ सकता। कितना ही कठिन कुछ हो, बार-बार सुनने और समझने का प्रयास करना चाहिए। यद्यपि कठिन बातको समझनेकी शैली विद्याभ्यास है। क्रमसे उन वस्तुओंका अवलोकन है, जो पढ़नेमें अपना क्रम रखते हैं, उनको सुगम हैं, फिर भी स्वाध्यायके बलसे जो कुछ श्रुतज्ञान किया है, प्रायः आप सब गृहस्थोंको उस श्रुतज्ञानमें भी ऐसी योग्यता होती है कि कठिनसे कठिन विषयको फिर भी सरलतासे समझा जा सकता है।

जिज्ञासाका विवरण-- बात यह सीधी चल रही है कि अभी आचार्य महाराजने यह उपदेश किया था कि भाई अपने आपको शुद्ध ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूपमें अपना विश्वास जमावो। तुम हो कैसे? इस बातको भुला दो, जो हो वह मिटता नहीं है। यद्यपि यह बात सत्य है तो भी निमित्त अथवा औपाधिक अन्य चीजों पर आप दृष्टि न दें और मात्र अपने केवल स्वरूप पर दृष्टि दें तो हितकी आशा की जा सकती है। अतः अपने चैतन्यस्वरूपमें दृष्टि दो तो निरपराध रहोगे, कर्मबंध न होगा, यह बात आचार्यदेवने कही थी, तिसपर एक जिज्ञासुने यहां प्रश्न उठाया कि संतोंकी उपासना करना, गुरुओंके समक्ष संकल्प करना, व्रत-नियम करना—इनसे सिद्धि होगी। शुद्ध आत्माका ज्ञान करें तो मात्र उस दृष्टिसे कोई लाभ नहीं है।

पूर्वपक्षकी आगमसे सिद्धि-- शंकाकार अपने पक्षको आगमसे सिद्ध करता है। आचारसूत्रोंमें भी स्पष्ट यह बताया है कि प्रतिक्रमण न करना, प्रतिसरण न करना, प्रतिहरण न करना, निवृत्ति न करना, निन्दा न

करना, किसकी ? अपनी। अपनेको शुद्ध न करना यह तो विषसे भरा हुआ घड़ा है और प्रतिक्रमण करना, परिहार करना, धारण करना, निवृत्ति करना, अपनी निन्दा करना, गर्हा करना, शुद्धि करना यह अमृतकुम्भ है। ग्रन्थोंमें भी साफ-साफ बताया है, फिर भी व्यवहारधर्मकी उपेक्षा करके उसकी कुछ इज्जत न रखकर तुम यहां यह बोल रहे हो कि शुद्ध आत्माके स्वरूपकी उपासना करो तो बंधन न होगा। यहां एक जिज्ञासुने विषय उठाया है, उसका उत्तर देते हैं। इस उत्तरमें दो गाथाएँ एक साथ आ रही हैं।

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥३०६॥
अपडिकमणं अपडिसरणं अपरिहारो अधारणा चेव।
अणियत्तीय अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥३०७॥

त्रिपदी— इन गाथाओंका अर्थ जाननेसे पहिले साधारणतया पहिले यह जानियेगा कि जीवके मोक्षसे पहिले तीन अवस्थाएँ होती हैं। जैसे एक अनियमरूप, धर्मप्रवृत्तिरहित याने रंच संयम न होना, अव्रतरूप प्रवृत्ति रहना, व्रत न होना। जब यह जीव और ऊपर उठता है तो उसके संयम और व्रतरूप प्रवृत्ति रहती है और फिर जब इससे और ऊपर उठता है तो संयम और व्रतरूप प्रवृत्ति भी नहीं रहती है, पर उस असंयममें और ऊपरके इस असंयममें बड़ा अन्तर है। एक मोटेरूपसे समझनेके लिए बात कही है संयमकी, वस्तुतः ऊपर अंतःसंयम रहता है।

त्रिपदीका विवरण— प्रथम बात ले लो—पहिली दशा तो जीवकी ऐसी रहती है कि वह अपने दोषपर पछतावा कुछ करता ही नहीं है। अज्ञानी पुरुष पापकार्योंमें, व्यभिचारोंमें आसक्त होकर क्या कभी पछतावा भी करता है ? नहीं करता है। वह तो पापकार्योंमें ही लगा रहता है। निकृष्ट दशा है पछतावा न करना। फिर जब इससे कुछ ऊपर विवेककी स्थिति आती है, तब दशा बनती है कि पछतावा भी करना। अपने गुरुवोंको दोष सुनाना, अपने किए हुए दोषोंपर पछतावा करना और जब वह और ऊपर उठता है और आत्मामें उनको अपना निरन्तर दर्शन बना रहता है। ऐसी स्थितिमें क्या पछतावा करता है ? फिर वहां पछतावा नहीं रहता है। पछतावा या तो अत्यन्त नीची दशामें नहीं रहता है या अत्यन्त ऊपरी दशामें नहीं रहता है। ध्यानमें आया ना।

विषकुम्भ और अमृतकुम्भका विचार— पछतावा न आना बतावो विष है कि अमृत है ? निम्न दशामें पछतावा न आना तो विष है और जब अत्यन्त ऊँची अवस्थामें जो पछतावा नहीं आ रहा है, आत्मरसमें तृप्ति

है, यह पछतावा न आनेकी दशा तो अमृत है ना। आगममें दोनों बातें कही हैं। पछतावा न आना विष है और पछतावा न आना अमृत भी है। अध्यात्मयोगमें जब बहुत गहराईमें उतर जाते हैं और अपने आत्मारामके वैभवमें तृप्त रहते हैं, वहां प्रवृत्तियां सब समाप्त हो जाती हैं। इन दोनों स्थितियोंका मुकाबिला रखकर यह प्रश्नोत्तर चल रहा है। जिज्ञासुके प्रश्नका तो यह भाव था कि प्रतिक्रमण न करना आदिक बातें तो विषकुम्भ हैं। पर यहां आचार्यदेव बतलाते हैं कि प्रतिक्रमण करना विषकुम्भ है, पछतावा करना विषकुम्भ है, धारणा करना विषकुम्भ है आदि।

मध्यपदकी सापेक्षता— जो जीव निम्न श्रेणीके हैं, अज्ञानदशाके हैं, उनको तो संयम न करना, संकल्प न करना, पछतावा न करना, किसीको गुरु न बनाना, गुरुवोंसे अपने दोष न कहना—ये सब विषकुम्भ हैं और उनके लिए नियम करना अमृतकुम्भ है। गुरु बनाना, गुरुवोंसे दोष कहना, अपनी निन्दा करना—ये सब अमृतकुम्भ हैं। पर जब ज्ञानी बनकर उत्कृष्ट अध्यात्मकी रति करने लगता है तो उसके लिए प्रतिक्रमण करना, संकल्प करना, आत्मनिन्दा करना, यह है विष और कुछ प्रवृत्ति न करना, ऐसे अप्रतिक्रमण आदिक यही हैं उसके लिए अमृत। अज्ञान और ज्ञानमें स्वभावभेद है।

उपादानानुसार वृत्तिका एक उदाहरण— एक धोबी था। उसके एक गधा था, जिसके द्वारा वह अपनी आजीविका चलाता था। उसके घरमें एक कुतिया थी, उसके तीन-चार पिल्ले हुए। वे पिल्ले जब महीनेभरके हुए तो वह इन्हें खूब खिलाने लगा, कभी उन पिल्लोंको हाथसे उठाए, कभी-कभी थोड़ा उचकाए और कभी छातीसे लगाए, कभी मुँहसे लगाये। पिल्ले कभी पंजा मारें, कभी ऊपर चढ़ें। बराबरमें बन्धे हुए गधेने सोचा कि हम पर तो यह बोझा लादता है, हमारे ही द्वारा इसके घरका पालन-पोषण होता है, फिर भी हमें यह यों नहीं खिलाता और ये पिल्ले जो कुछ काम नहीं आते, जो नोच रहे हैं, ऊपर चढ़ रहे हैं, इन्हें गोदीमें खिलाता है। इसका क्या कारण है ? सोचते-सोचते ध्यानमें यह आया कि यह पिल्लोंसे इसलिए प्यार करता है कि ये धोबीके पैरोंको पञ्जा मारते हैं। अपन भी ऐसा करें तो अपनेको धोबी मालिकका प्यार मिलेगा। इतना सोचकर गधा जनाब उस कच्ची रस्सीको तोड़कर धोबीके पास आ गया। आगेके पैरोंसे तो गधे मार नहीं पाते, सो वह पीछेके दोनों पैरोंसे उस धोबीको मारने लगा। इस धोबीने डण्डा उठाकर ५-७ डण्डे जमाये। खूब पिटकर गधा अपने स्थान पर आ गया और सोचने लगा कि क्या गल्ती हो गयी ? वही काम तो पिल्लोंने किया तो वे प्यार पा रहे हैं और

वही काम मैंने किया सो डंडे लगे। सो भाई सबकी जुदी-जुदी योग्यताकी बात है। पिल्लों जैसा काम गधा करे तो नहीं कर सकता है।

अधिकारियोंका निर्णय—यह बात जो कही जा रही है कि प्रतिक्रमण न करना, धारणा न करना आदि बातें अमृत हैं, पर किसके लिए अमृत हैं? जो ज्ञानबलसे और शुभोपयोगकी स्थितिसे ऊँचा उठ रहा है उसके लिए अमृतकुम्भ हैं, कहीं निकृष्ट पदमें जाने वालेके लिए अमृत कुम्भ नहीं हैं। इन सबका अब अर्थ बतलाते हैं कि ये ८ चीजें जो कही गयी हैं, जिनके बारेमें यह चर्चा चली है कि यह विष है या अमृत, उनका अर्थ सुनिये।

प्रतिक्रमणका भाव—प्रतिक्रमणका अर्थ है—अपने किए हुए दोषों का निराकरण करना। अपने किए हुए दोषोंका निराकरण होता है बड़ी तपस्यासे, दण्ड ग्रहण करनेसे। तो बतलावो कि ऐसा प्रतिक्रमण करना अमृत है या विष? बतलावो अच्छा प्रतिक्रमण विष है या अमृत? निकृष्ट दिशा वालोंके लिए तो प्रतिक्रमण अमृत है और ऊंची स्थितिमें ज्ञानवृत्तिके मुकाबिलेमें उनके लिये यह द्रव्यप्रतिक्रमण विष है और इसमें निश्चयप्रतिक्रमणरूप प्रतिक्रमण अमृत है।

देवपूजाके हेयोपादेयका निर्णय—यहां एक मोटी बात कहेंगे। भगवान् की द्रव्यपूजा करना विष है कि अमृत है? यह बात समने है। सो जो निकृष्ट जन हैं, हमीं सब लोग हैं, ऊँची स्थितिमें नहीं हैं, अध्यात्मयोग में नहीं हैं उनके लिए यह कहा जायेगा कि पूजा करना अमृत है। अपने आत्मस्थ रहना यह ऊँची स्थिति नहीं है। सो निकृष्ट जनोंकी अपेक्षा पूजा करना अमृत है और निर्विकल्प उत्कृष्ट जनोंकी अपेक्षा पूजा करना विष है। जो निर्विकल्प स्थिति चाहते हैं अथवा स्वानुभवकी स्थिति चाहते हैं उनको पूजा करनेका विकल्प भी विष दिखता है। वे जानते हैं कि इससे भी ऊंची, ऊपर उठी हुई ज्ञानी आत्माकी अवस्था हुआ करती है। इसी तरह इन सब बातोंको घटाना है।

क्रमिक अवबोध—यह है मोक्षाधिकारका अंतिम वर्णन जिसके बाद मोक्षाधिकार समाप्त होगा। उसमें यह बतला रहे हैं कि बंधनसे छूटना है तुम्हें तो उसका क्रमिक उपाय करते जाइए। पहिले तो साधारण ज्ञान कीजिये, जीव कितने हैं, संसारी कितने हैं, मुक्त किसे कहते हैं, इत्यादि साधारण ज्ञान चाहिए। इसके बाद फिर पर्यायका ज्ञान बढ़ाइए। गुणस्थान १४ हैं। जीव समास १४ हैं। मार्गणायें १४ हैं—उनके भेद प्रभेद हैं ताकि यह विदित हो कि जीव अमुक-अमुक स्थितिमें रहते हैं। फिर और बढ़िये तो अब उन सब बातोंको द्रव्य, गुण, पर्याय इन तीन शैलियों

से ज्ञान करने लगिये। जो भी चीज ज्ञानमें आए उसमें द्रव्य क्या है, गुण क्या है ? परिणमन क्या है, इस शैलीसे ज्ञान कीजिए। इस शैलीसे ज्ञान करनेमें प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने लक्षण जानने होंगे। जैसे जीव का लक्षण है चेतना, पुद्गलका लक्षण है मूर्तता—रूप, रस, गंध, स्पर्श होना और धर्मादिकका लक्षण है गतिहेतुत्व आदिक। प्रकृतमें दो बातों पर चलना है। पुद्गलका लक्षण तो मूर्तिकता और जीवका लक्षण है चेतना। तो अपने-अपने लक्षणका ज्ञान करिये।

प्रयोजनीय ज्ञान—इसके पश्चात् भेदविज्ञान करिये। जहां चेतना है वहां मैं हूं, जहां चेतना नहीं है वहां मैं नहीं हूं। भेद ज्ञान करनेके बाद जो छोड़ने योग्य है उसकी दृष्टि छोड़िये। जो ग्रहण करने योग्य है उसकी दृष्टि करिये। छोड़ने योग्य है अचेतन और अचेतन भाव। ग्रहण करने योग्य है यह चैतन्यस्वरूप। उसे ग्रहण करिये। ग्रहण कैसे करेंगे ? यह चेतनामात्र मैं हूं। चेतनका काम क्या है ? चेतना। मैं चेत रहा हूं, मैं चेतते हुए को चेत रहा हूं। चेतते हुएके लिए चेत रहा हूं, चेतते हुएको चेतता हूं, इस चेत रहेमें ही चेतता हूं। इस तरह चेतनेके उपाय द्वारा अपने आत्माको ग्रहण करें। ऐसा जाननेके बाद यह देख रहा है कि चेतने वाला कोई दूसरा नहीं है जिसको चेता जाय, वह तो एक चैतन्य भावमात्र है। तो उन सब विकल्पोंका निषेध करके मैं चेतनमात्र हूं इस प्रकार अपनेको पकड़ना है।

आत्मग्रहण—फिर जब विशेष पकड़में चला तो अपनेको जानन द्वारा ग्रहण करना है। मैं जानता हूं, किसको जानता हूं ? इस जानते हुएको ही जानता हूं। काहे के द्वारा जानता हूं, इस जानते हुएके ही द्वारा जानता हूं। किस लिए जानता हूं ? इस जानते हुएके लिए ही जानता हूं किसमें जानता हूं ? इस जानते हुएमें जानता हूं। अरे किससे ऐसा प्रवर्तन निकालकर जान रहे हो, इस जानते हुएसे ही जान रहा हूं। फिर सोचा कि जानने वाला कोई दूसरा नहीं है, जिसको जान रहे हो वह जो जान रहा है वह पृथक् नहीं है और फिर किस लिए जान रहे हो, वहां जानना ही क्या हो रहा है ? एक ज्ञानमात्र भाव है। इस तरह ज्ञानी ज्ञान गुणके द्वारा अपनेको पकड़ रहा है।

आत्मावभासन—इसी प्रकार उसने दर्शन गुणके द्वारा भी अपना ग्रहण किया। मैं क्या करता हूं देख रहा हूं, इस देखते हुएको देख रहा हूं, देखते हुएके द्वारा देख रहा हूं, देखते हुएके लिए देख रहा हूं, देखते हुए को देख रहा हूं, देखते हुएमें देख रहा हूं, ओह वह दिखने वाला अन्य नहीं जिसको देखा जा रहा है। दिखाता भी क्या है ? यह तो केवल दर्शन

भाव मात्र है। इस तरह अपने अन्तरभावमें घुसकर वह अपना प्रकाश पा रहा है। अपने आपको ग्रहण कर रहा है। ऐसी अध्यात्मसाधना करने वालेकी कहानी है। कहीं ऐसा निषेध सुनकर कि प्रतिक्रमण आदिक करना विष कुम्भ है तो निकृष्ट जीव उसे छोड़ न दें, यह ऊंचे अध्यात्मयोगमें बढ़ने वाले पुरुषकी कहानी है।

द्रव्यप्रतिक्रमणादिकी उभयरूपता—इस मोक्षाधिकारमें प्रारम्भिक भावों को लेकर अंतिम चैतन्यमात्र भावरूप वर्णन करके अब आचार्यदेव यह बतला रहे हैं कि व्यवहार आधार सूत्रोंमें तो प्रतिक्रमण आलोचना निन्दा आदिको अमृतकुम्भ बताया है, शुद्धिके साधकतम बताया है किन्तु उससे और उत्कृष्ट ज्ञानपदकी दृष्टिमें तो प्रत अप्रत दोनोंसे रहित अवस्था है वहां ये सब विषकुम्भ माने जाते हैं। उन्हीं ८ चीजोंका अब अर्थ कर रहे हैं। प्रतिक्रमणका अर्थ तो है लगे हुए दोषोंका निराकरण करना। ये आठों की आठों बातें तीनों पदवियोंमें दिखती हैं। एक अज्ञानी अवस्थामें और एक ज्ञानी होकर साधना अवस्थामें और एकमात्र ज्ञानवृत्तिकी अवस्थामें तो प्रतिक्रमणका अभाव होना अज्ञान अवस्थामें विषकुम्भ है और ज्ञानी की साधनाकी अवस्थामें प्रतिक्रमण करना अमृतकुम्भ है किन्तु इससे ऊपर ज्ञानवृत्तिकी अवस्थामें फिर भी प्रतिक्रमणसे अलग रहना, गुरुवोंके पीछे पीछे फिरना, विकल्प करना—ये सब उस ज्ञानवृत्तिके मुकाबिलेमें विष हैं, विषकुम्भ हैं याने हेय हैं।

त्रिपुटीका व्यावहारिक उदाहरण—अच्छा रोटी बनाते हैं तो सिगड़ी लाना, कोयला जलाना लकड़ीमें फूँक मारना ये सब रसोईके लिये अच्छे काम हैं ना, अब रोटी बन चुकी पूरी, फिर लकड़ी ले आना, फूँक मारना, कोयला जलाना, आंसू बहाना ये बातें अच्छी हैं कि बुरी हैं? ऐसे ही इन तीनों पदोंमें इन बातोंको देखना है।

प्रतिसरणका भाव—दूसरा भाव बताते हैं प्रतिसरण। प्रतिसरणका अर्थ है सम्यक्त्व आदिक गुणोंमें अपने को प्रेरित करना। धर्मात्मा जनोंमें वात्सल्य करना, धर्ममें उन्हें स्थिर करना, सेवाएं करना, धर्मात्मावोंके प्रतिसेवामें ग्लानि न करना, जिन-वचनोंमें शंका न करना और अपने चारित्र संयमके द्वारा अथवा अन्य समारोह अतिशय प्रभावनाके द्वारा धर्मकी प्रभावना करना ये चीजें अच्छी हैं या बुरी हैं? तो प्राक् पदवीमें तो साधारण जनोंमें तो अच्छी चीज है और सर्वथा ही अच्छी चीज हों तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बड़े-बड़े लोग इन व्यवहारवृत्तियोंको तज कर मोक्ष में क्यों पहुंच गए? अब वहां ठलुआ क्यों बैठें? तो मालूम होता है कि ये ही सब धर्मकी प्रवृत्तियां अब उस पदके मुकाबलेमें विषकुम्भ हो गई हैं।

सो ज्ञानी पुरुषके एक विशुद्ध दृष्टि जगी रहती है।

प्रतिहरणका भाव— तीसरा भाव है प्रतिहरण। मिथ्यात्व रागादिक दोष निवारण करना, सो है प्रतिहरण। न आ सके राग, यही तो कल्याण है। अगर राग आ रहा हो तो ऐसा विचार बनाएँ कि किस क्षणिक पुरुष से राग किया जा रहा है? स्वयं भी मिटने वाला, यह दूसरा भी मिटने वाला, तब तो वियोग होगा ही। राग करके अपने जीवनका अमूल्य समय व्यर्थ क्यों खोया जा रहा है? इससे उसे लाभ क्या मिलेगा? विवेकपूर्ण परिणमनोंके द्वारा उस रागभावको दूर करो, इसको प्रतिक्रमण कहते हैं। अब बतलाओ कि प्रतिहरण करना अमृत है या विष है? निकृष्ट दशा वालोंके लिए तो अमृत है, किन्तु ज्ञानवृत्तिका जिसने स्वाद लिया है, वह तो ज्ञानमात्र ही रहना ठीक जानता है और ज्ञानमात्र रहनेकी वृत्तिमें रहता है, उसके लिए तो प्रतिक्रमण विषकुम्भ है।

धारणाका भाव— चौथी चीज बतलाई जा रही है धारणा। अपना चित्त स्थिर करना, इसका नाम धारणा है। यह बड़ा विकट चित्तजाल है। थोड़ा चित्तको ढीला किया तो लम्बे फिंक जाते हैं और थोड़ा दृढ़ करो तो स्वयं यह काबूमें अपनेमें आ जाता है। जैसे कुधमी घोड़ेकी लगाम ढीली करना खतरनाक है, इसी तरह इस मनकी लगाम ढीली करना खतरनाक है। कोई सोचे कि थोड़ी देर ही तो राग किया जा रहा है तो पता नहीं कि उस थोड़ी देरमें कैसी बुद्धि बन जाए कि रागसे बढ़कर मोहमें आ जावे और मोह महान अंधेरा है, इसलिए चित्तको स्थिर करना, यही धारणा है।

धारणका उद्यमन— भैया! चित्त स्थिर कैसे करना है? बाह्य सब धर्मनिमित्तोंका आश्रय करके पंच नमस्कारका ध्यान करना, पंचपरमेष्ठीके स्वरूपका स्मरण करना। अहो, यह शुद्ध अवस्था तो अरहंत सिद्ध प्रभुकी है—जहां सर्वज्ञताका असीम फैलाव है. दोषका रंच नाम नहीं है, शुद्ध ज्ञानपुञ्ज विकसित हुआ है। अहो, वैभव तो यही है। वह मैं हूं, मुझमें भी यह स्वभाव है, ऐसे उस स्वरूपके स्मरणसे अपने स्वभावकी समताका चिंतन करके एकरस बना, अपने चित्तको स्थिर करना और उस प्रतिमाका दर्शन करके मुद्राको निरखकर बड़ी सूक्ष्मदृष्टिसे निरखना, चलती-फिरती नजरसे मुद्राको देख लेनेसे वहां कुछ न मिलेगा। एक टकी लगाकर कैसी उनकी नासाग्र ध्यानकी मुद्रा है और ऐसा देखते हुए यह भूल जाना कि यह पाषाणकी मूर्ति है, बल्कि यह भावमें आ जाए कि ओह, ऐसी मुद्रा, न पलक गिरती है, न पलक उठती है, ऐसा प्रभुका स्वरूप है। उनको किसी प्रकारके रागसे प्रयोजन नहीं, किसी बाह्यकी ओर उनकी

दृष्टि नहीं। वे तो अपने आपके आत्माके उपयोगी रहकर आनन्दरससे तृप्त हो रहे हैं, ऐसा ही प्रभु है। प्रतिमाका आश्रय लेकर अपनी विशुद्ध भावना बनाकर चित्तको स्थिर करना, इसका नाम है धारणा।

धारणाकी हेयोपादेयता— अब यह बतलाओ कि धारणा करना अमृत है या विष ? हम लोगोंके लिए और जनसाधारणके लिए अमृत है। न करें चित्तको स्थिर तो क्या करें ? जो पापमें लगे हैं, उनके लिए धारणा अमृत है। मगर क्या सदा यह करता रहे ? नहीं। यह विकल्प भी भूलें, केवल ज्ञाता दृष्टामात्र परिणमन रहे, यही उत्कृष्ट अवस्था है। उस ज्ञाताद्रष्टाकी स्थितिके मुकाबले यह हमारी धारणा विषकुम्भ बताई गई है। देखिए, गरीब भी हो कोई और न बन सके लखपति जैसा लखपति, तो भी लखपतिकी सारी बातोंको समझ तो ले। उससे क्या होगा ? वह गरीब चौकन्नासा न रहेगा, बेवकूफ न रहेगा भीतरमें। जानकारी तो सब हो जाएगी। नहीं मिल पाती है ज्ञाताद्रष्टाकी स्थिति तो कमसे कम ज्ञाताद्रष्टाकी स्थितिका जौहर तो जान लें कि वहां क्या आनन्दरस भरा है ? कमसे कम चौकन्ना तो न रहेगा, अंधेरेमें तो न रहेगा। प्रभुमूर्तिके चरणोंसे आगे दालानमें सिर रगड़ने-रगड़नेका ही तो प्रोग्राम न रहेगा। अब कुछ आगेकी बात तो समझमें आएगी। किसके लिए हम वंदन करते हैं, किसके लिए भक्ति करते हैं ? वह चित्तमें होगा। यह देखो कि ज्ञानवृत्तिके आगे धारणा विषकुम्भ है।

निवृत्तिका भाव— पांचवा परिणाम बतला रहे हैं निवृत्ति। निवृत्ति मायने हट जाना। बहिरङ्ग जो विषयकषाय आदिक अपने मनमें आने वाले विकल्प है, उन विकल्पोंसे हट जाना, इसका नाम निवृत्ति है। जैसे कोई पुरुष किसीके चक्करमें, रागमें उलझ गया हो और किसी भी प्रकार उसका छुटकारा हो जाए, निवृत्ति हो जाए तो वह उस निवृत्तिमें यद्यपि वह अकेला रह गया है, पर जितनी तृप्ति उसको निवृत्तिमें मिलती है, उतनी तृप्ति प्रवृत्ति व संगतिमें नहीं मिलती। निवृत्त करना ही होगा अपने चित्तको विकल्पोंसे। विकल्प आएँ तो उन्हें ज्ञान द्वारा दूर किया जाए। विकल्प ही हमारा वैरी है। जैसे पलासके पेड़में लाख लग जाए तो वह लाख उस पलासके पेड़का वैरी है, उस वृक्षको मूलसे नष्ट कर देता है। इसी प्रकार इस मुझ आत्मामें यह विकल्पोंकी लाख लग गई है, ये विकल्प इस प्रभुको बरबाद करनेके लिए उतारू हैं, पर हे प्रभु ! तू इन वैरियोंका यथार्थ स्वरूप जानकर इनसे दूर हटनेका यत्न कर। इनमें फंसकर फंसता चला जाएगा।

निवृत्तिका उपाय — जैसे कोई बुद्धिमान पुरुष हो, उसे दुष्ट पुरुषोंके

द्वारा कुछ पीड़ा भी पहुंच जाए तो भी उनकी उपेक्षा करके अपने काममें लगते हैं, इसी प्रकार ये रागादिक, ये विषयकषाय, इनके द्वारा यह 'मैं' प्रभु सताया हुआ हूं, पर बुद्धिमानी इसमें है कि उन समस्त विकारोंसे हटकर अपने ज्ञानस्वरूपके जाननेमें लग जाएँ तो उसका उपाय सफल होगा। निवृत्ति इसीका नाम है। अब बतलावो निवृत्ति अमृत है या विष ? अमृत-कुम्भ है। पर यह चीज सदा रहनी चाहिए क्या ? कभी ज्ञानके परम-आनन्दका अनुभव नहीं करना चाहिए क्या ? इन रागादिकोंके हटानेके श्रममें तो शुद्ध आनन्द नहीं आ रहा है। रागादिक हो रहे हैं और ज्ञानबल से हम विकल्पोंको हटानेका यत्न करते हैं। यही तो एक श्रम है, पुरुषार्थ है। ठीक है, परन्तु उस श्रममें परमआनन्दका अनुभव नहीं है। परम-आनन्दका अनुभव ज्ञानवृत्तिमें है। उस ज्ञानवृत्तिके मुकाबले यह निवृत्ति विषकुम्भ बतायी गयी है।

निन्दाभाव— छठवां भाव है निन्दा। अपने आपमें अपनी साक्षी लेकर अपने दोषोंको प्रकट करना, सो निन्दा है। कभी एकांतमें आपही भगवान बन जाइए, आपही भक्त बन जाइए, भक्त बनकर भगवानको गिड़गिड़ाइए और भगवान बनकर अपने दोषोंको निश्छल कहकर अपने ही आत्मस्वरूपका आलम्बन करनेका यत्न कीजिए। इसीका नाम है निंदा, यह है अमृत कुम्भ। आत्मसाक्षिपूर्वक आत्मनिन्दा करनेसे बहुतसा बोझ हल्का हो जाता है। उसके समस्त दुःख दूर हो जाते हैं, उसमें आगे दोष न करनेके लिए प्रेरणा मिलती है। ऐसी अपने आपकी निन्दा करना अमृत है या विष है ? अमृतकुम्भ है। इससे बहुत लाभ मिलता है, उत्कृष्ट स्थितिकी ओर इसकी गति होती है, किन्तु अपने आपकी इस तरहकी निन्दा करते रहना ही क्या अंतिम श्रेय है ? अन्तिम श्रेय है ज्ञाताद्रष्टा रहना। इस स्थितिके बिना आत्मनिन्दा विषकुम्भ है।

अज्ञानियोंकी प्रशंसापद्धति— भैया ! प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रशंसा चाहता है, पर शायद यह मनुष्य अकेलेमें अपनी प्रशंसा न चाहता होगा, न करता होगा। जहां दो-चार पुरुष मिल गए, मिल गए, वहां अपनी प्रशंसा किया करता है। होगा भी कोई ऐसा मूर्ख जो अपनी इस बाहरी करतूत पर, अपनी कला करतूत पर भी एकांतमें बड़ा संतोष और तृप्ति का अनुभव करता होगा और अपनेको बड़ा मानता होगा। मैंने बहुत ठीक किया, मैं भी ऐसा कर्ता। किसीको धोखा दिया, छल किया और छलसे कुछ पैसोंका लाभ लूटा तो एकांतमें कितनी खुशी हुई ? देखो, मैंने कितना चकमा उसको दिया कि वह लुट गया और मैंने अपना पेटा भर लिया। ऐसे भी लोग हैं जो इस करतूत पर तृप्ति, संतोष और बड़प्पन

मानते हैं। बिना टिकिटके लोग रेलगाड़ीमें सफर कर रहे हैं, दो चार टिकिट चेकर भी रेलमें हैं, पर कभी नीचे उतर जाये, और कभी अपना सीना फुलाए हुए टिकिट चेकरके पाससे निकल जाये, कभी संडासमें घुस जाय, इन्हीं करतूतोंसे टिकिट चेकरको छका दिया, धोखा दिया तो सोसाइटीमें आकर कैसी अपनी बड़ाई करते हैं कि मैंने अपनी कलासे टिकिट चेकरको यों छकाया। तो अपनी प्रवृत्तियों पर भी यह जीव अपना बड़प्पन समझता है।

निन्दाभावके अमृतकुम्भपने व विषकुम्भपनेका निर्णय—ऐसा ज्ञानीसंत बिरला ही है जो अपनी त्रुटियोंपर अपने आपके प्रभुके समक्ष निन्दा करता है। मैंने बड़ा बुरा किया। मेरा तो ज्ञानदर्शनमात्र ही स्वरूप है। मुझे तो मात्र जाननहार ही रहना था। किन्तु अमुक, जीव पर मैंने रागका परिणाम किया, अमुक पर मैंने द्वेष परिणाम किया और और भी बड़ी पापकी बातें हो गयीं उन सबकी निन्दा करना यह तो ऊँची चीज है, अमृतकुम्भ है, किन्तु ज्ञानवृत्तिके समक्ष यह निन्दाका भाव भी विकल्प है और विषकुम्भ कहा गया है।

गर्हाभाव—७ वां परिणाम है गर्हा। गुरुकी साक्षीमें अपना दोष प्रकट करना सो गर्हा है, यह बड़ा ऊंचा तप है। अपने मुखसे अपनी यथार्थ गलती। कोई बिरला ज्ञानी संत ही कह सकता है। मुझे परवाह नहीं, मुझे इस दुनियामें अपनी इज्जत नहीं रखनी है, पोजीशन नहीं बनानी है। अरे यह सारा झमेला मायामय है। यहां कोई किसीका अधिकारी नहीं है, कोई किसीकी खबर ले सकने वाला नहीं है। सभी जीव अपने आप पापके अनुसार सुख दुःख भोगते हैं। ऐसे इस असाधारण मायामय जगतमें मुझे अपनी क्या नाक रखना है, ऐसा ज्ञानी पुरुष ही ऐसा साहस कर सकता है कि अपने गुरुकी साक्षीमें अपने दोषोंको निश्छल होकर बालकोंकी तरह आगे पीछे क्या परिणाम होगा, कुछ ध्यान न लाकर अपना कर्तव्य जानकर प्रकट करता है जिसे कहते हैं गर्हा।

गर्हासे दोषशुद्धि — भैया! गर्हासे दोषोंकी बड़ी शुद्धि होती है, गुणों में बड़ी प्रेरणा होती है, सारा बोझ हल्का हो जाता है। यह गर्हा धर्मका विशेषरूपसे अंग माना गया है। बतलाओ ऐसी गर्हा करना विषकुम्भ है या अमृतकुम्भ है? तो साधनाकी दशामें तो अमृतकुम्भ है किन्तु ज्ञान वृत्ति रूप जो आत्माकी उत्कृष्ट अवस्था है उस अवस्थाके लिए तो उसके मुकाबले में यह गर्हारूप वृत्ति विषकुम्भ कही गयी है। यहां यह देखना है कि हमारी किस स्थितिमें जाने पर उत्कृष्टता मानी जायेगी, यह धार्मिक जो हमारी प्रवृत्तिका रूप है यह कृतकृत्यताका रूप नहीं है। जो लोग इन

धर्मक्रियावोंको करते हुए निर्दोष समझ लेते हैं, अपनेको कृतकृत्य मान लेते हैं—आज लो पूजन कर लिया, कृतकृत्य हो गया। जाप देकर कृतार्थ हो गए। अरे ये साधनाकी दशाएं हैं, यह कृत्यार्थताकी अवस्था नहीं है। कृतार्थकी अवस्थामें तो ये सब वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं।

चरमविकास स्वैकरसता—पानीमें नमकके बोरे डाल दो, जब तक नमककी बोरी घुलती नहीं है उस समय तक समझ लो कि द्विविधा अवस्था है, जब घुल जाता है तो डलीका पता नहीं रहता है वह समझलो कि उसकी एकरस अवस्था है। इसी तरह हमारा उपयोग डलीके माफिक जुदा-जुदासा फिरता रहा वह हमारी द्विविधाकी अवस्था है। जब यह उपयोग कुछ एक ओरसा नजर न आये, किस जगह पड़ा है, किस जगह लग रहा है, क्या कर रहा है, यह भी जब नहीं रहता है तब ये समस्त ज्ञान मग्न हो जाते हैं, एकरस हो जाते हैं वह है ज्ञान वृत्तिकी अवस्था। उसके मुकाबिले यह गर्हाका उपक्रम विषकुम्भ कहा गया है।

शुद्धिका भाव—अब ८ वां परिणाम है शुद्धि। दोष हो जाने पर प्रायश्चित ग्रहण करके अपनी विशुद्धि कर लेना इसका नाम शुद्धि है। कोई दोष हो गया, गुरूसे निवेदन किया, गुरूने जो दण्ड बताया उस दण्डका पालन किया, ऐसी वृत्ति करनेसे परिणामोंमें निर्मलता होती है किए हुए दोषोंका खेदरूप जो दुःख है, शल्य है वह दूर हो जाता है फिर मोक्षमार्गमें इसका वेग पूर्वक गमन होता है, ऐसी शुद्धि करना अमृत कुम्भ है। लेकिन ज्ञानवृत्तिके समक्ष अध्यात्मयोगके मुकाबले यह शुद्धिकरण विषकुम्भ बताया गया।

शुभाष्टक—ये ८ प्रकारके विकल्प शुभोपयोग हैं। ये सब यद्यपि सविकल्प अवस्थामें हैं, सराग चारित्र अवस्थामें हैं। रागादिक विषय कषायोंमें परिणति हुई ना, इस शुभोपयोग के मुकाबले ये ८ प्रकारके धर्म के अंग अमृतकुण्ड नहीं हैं क्या? हैं। तो भी निर्विकल्प अवस्था जो तीसरी भूमि है, जिस निर्विकल्प अवस्थामें प्रतिक्रमणका अभाव है, प्रतिसरन, निन्दा गर्हा आदि आठ तत्त्वोंका अभाव है, ऐसे तृतीय उत्कृष्ट पद की अपेक्षा निहारें तो ये ८ विषकुम्भ कहे गए हैं।

तीन आत्मभूमियां—प्रथम भूमि है अज्ञानी जनोंकी, द्वितीय भूमि है साधक पुरुषोंकी ज्ञानी पुरुषोंकी और तृतीय भूमि है ज्ञानघनोपयोगी रहने वाले आत्मावोंकी। तो प्रतिक्रमण पहिली अवस्थामें भी नहीं है और तृतीय अवस्थामें भी नहीं है लेकिन पहिली अवस्थामें प्रतिक्रमण न करना दोष है, विषकुम्भ है और तृतीय अवस्थामें प्रतिक्रमण न होना अमृतकुम्भ है। कैसी है वह तृतीय अवस्था जहां राग, द्वेष, मोह, ख्याति

पूजा, लाभ इनका अभाव हो गया, केवल शुद्ध ज्ञानज्योतिके अनुभवमें रहनेसे स्वाधीन, अनुपम, आत्मीय आनन्द प्रकट हो रहा है, जहां किसी प्रकारके भोगोंकी इच्छा नहीं है, न देखे हुए भोगोंका ख्याल है, न सुने हुए भोगोंका ख्याल है, न अनुभव किए हुए भोगोंका ख्याल है, ऐसे निदान शल्यसे रहित यह तृतीय ज्ञानवृत्तिकी अवस्था है। परद्रव्योंका जहां रंच आलम्बन नहीं है ऐसी विभावपरिणामोंसे रहित यह तृतीय अवस्था है। जहां चिदानन्द स्वरूप एकस्वभावी विशुद्ध आत्माके आलम्बनसे भरी पूरी अवस्था है ऐसी निर्विकल्प शुद्धोपयोग रूप निश्चय प्रतिक्रमणकी अवस्था है। जो ज्ञानीजनोंके द्वारा ही आश्रित है ऐसे तृतीय भूमिकी अपेक्षा वीतराग चारित्रमें स्थित पुरुषोंके लिए ये प्रतिक्रमण आदिक विषकुम्भ हैं।

मध्यपदकी सापेक्षता—यहां स्थूल रूपसे यह जान लेना कि प्रतिक्रमण न करना दो तरहका है। एक ज्ञानी जनोंका अप्रतिक्रमण और एक अज्ञानी जनोंका अप्रतिक्रमण। अज्ञानी जनोंका अप्रतिक्रमण विषय कषायके परिणमन रूप होता है, वह तो विषकुम्भ है। और ज्ञानीजनोंका अप्रतिक्रमण अर्थात् व्यवहार धर्मको पकड़में न रहना किन्तु स्वयं धर्मरूप हो जाना, शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व आचरणरूप रहना, सुरक्षित रहना यह निश्चयप्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है। नाम अनुप्रासमें अमृतकुम्भ में तार्तीय अप्रतिक्रमण कह दिया है, पर इसका नाम है निश्चय प्रतिक्रमण। यह निश्चय प्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है। तो ऐसी भावना रखो कि सर्वविकल्पोंसे हटकर मेरी केवल ज्ञानवृत्ति हो।

सुबोधके लिये नामान्तर - तीन दशाएं होती हैं—अप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। अच्छा यों न बोलो—यों कहो पहिला अप्रतिक्रमण दूसरा व्यवहारप्रतिक्रमण और तीसरा निश्चयप्रतिक्रमण, यह भाषा मर्म समझनेमें शुद्ध रहेगी। ज्ञानीजनोंके वर्णनमें तो ज्ञानात्मक ढंग का यही वर्णन था अप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। पर सुबोध के लिए इस प्रकार रखिए अप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रतिक्रमण और निश्चय प्रतिक्रमण। अर्थ खुलासा बनायेंगे इसलिए इस अनुत्साहमें न बैठें कि क्या कहा जा रहा है, यह तो ऊंची चर्चा है। चित्त देनेसे सब समझमें आता है और चित्त न देनेसे दाल रोटी बनानेकी तरकीब भी समझमें नहीं आती।

एक जिज्ञासा—अप्रतिक्रमण का अर्थ है अपने दोषोंको दूर न करना कुछ कल्याणके लिए उत्साह न जगना, रागद्वेषमें पगे रहना, यही है अप्रतिक्रमण। और जब अज्ञान मिटता है, सम्यक्त्व जगता है तो यह जीव

व्यवहारप्रतिक्रमण भी करता है। गुरुवोंसे निवेदन करना, जो दण्ड बताया जाए, उसको ग्रहण करना, यह है व्यवहार प्रतिक्रमण, पर निश्चय प्रतिक्रमणकी दृष्टि नहीं है। आज यह बात समझमें आएगी। जैसे कि कुछ भाइयोंको यह जिज्ञासा बन गयी कि जब निश्चय ज्ञानवृत्तिमें पहुंच गया तो प्रतिक्रमण आदिकका उसे ख्याल नहीं है। विषकुम्भ क्यों कहा जाता है? आज उस विषयको स्पष्ट कर रहे हैं और बड़ी दिशा मिलेगी तुम्हें इसमें।

शुद्धिसापेक्षता बिना शुभकी स्वकार्यकारिता— जिस जीवको अपने ज्ञानस्वभावका परिचय नहीं है और मोक्षमार्गके लिए अन्तरमें परिणमन क्या होता है, इस बातका जिन्हें बोध नहीं है, ऐसे ज्ञानीजन यदि व्यवहार प्रतिक्रमण भी करें, दोष लगें तो उनका प्रायश्चित्त करें, मूलगुणोंका भी खूब पालन करें, तिस पर भी प्रतिक्रमणका और इन व्रत, संयमोंका प्रयोजन तो मोक्षमार्गमें बढ़नेका था, किन्तु वह तो एक सूत भी नहीं बढ़ सका, क्योंकि मोक्षमार्ग होता है अपने शुद्ध आत्मतत्त्वके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप चलनेसे। व्यवहारमें ये सब प्रतिक्रमण आदिक करें तो उससे किञ्चित् पुण्यलाभ होता हो, पर मोक्षमार्ग नहीं मिलता। सो प्रतिक्रमणके प्रयोजनका विपक्ष जो संसार-बंधन है, वह तो बना ही रहा, इसलिए अज्ञानीजनोंका व्यवहार प्रतिक्रमण भी विषकुम्भ है, यहां यह बताया गया है।

परमार्थापराधके विषकुम्भता— भैया! यही सब व्यवहारप्रतिक्रमण शुद्ध दृष्टिको लिए हुए पुरुषोंमें होता तो यह अमृतकुम्भ है। इसी बातको अमृतचन्द्रसूरिने अपने आत्मख्यानमें कहा है कि जो अज्ञानीजनोंमें पाये जाने वाले अप्रतिक्रमण आदिक हैं पापबुद्धि, कषायभाव उससे शुद्ध आत्माकी सिद्धिका अभाव है, चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वकी दृष्टि उनके नहीं है, सो स्वयं ही अपराधी है। पहिले बताया था कि शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टि नहीं रहना; सो सब अपराध है। अब यह लक्षण घटाते जाएँ, यह सब व्यवहारप्रवर्तन परमार्थदृष्टिसे अपराध कहा गया है।

कल्पना बिना क्लेशकी अनुत्पत्ति— भैया! जितना भी जीवोंको क्लेश है; सब अपने अपने अपराधके कारण क्लेश है। कोईसा भी क्लेश ऐसा बतावो कि खुदका अपराध न हो और क्लेश होता हो। मूलमें यही अपराध है कि हम अपने शुद्ध ज्ञायकस्वभावरूप अपनेको लक्ष्यमें नहीं ले रहे हैं। कोई पुरुष गाली देता है, एक नहीं वरन् ५० आदमी खड़े होकर एक स्वरसे गाना बनाकर गालियां दें और यह पुरुष जिसको लक्ष्यमें लेकर गालियां दे रहे हैं, अपनेको सबसे न्यारा शुद्ध ज्ञानस्वरूप अनुभवमें ले

रहा हो तो उसका क्या बिगाड़ किया उन पचासों पुरुषोंने ? क्यों दुःखी नहीं हुआ यह ? यह अपराध ही नहीं कर रहा है, जो अपराध करे सो दुःखी हो।

डबल अपराध— अपराध तो खुदकी कल्पनासे ही होता है। अभी कल्पनामें यह आए कि अमुकने देखो ऐसा अनहोना काम किया, सो हमें उस कामसे कष्ट हो रहा है, यह है उसका डबल अपराध। एक तो खुदके अपराधसे दुःखी हो रहा है और दूसरे मान रहा है कि इसने यों किया है, इसलिए मुझे क्लेश हुआ। इसे कहते हैं भ्रम। रागद्वेष सिंगिल अपराध है और भ्रम करना डबल अपराध है। यह जगतका प्राणी डबल अपराधी हो रहा है। अपने स्वरूपमें रमता हुआ कोई पुरुष किसी भी दूसरेके यत्न से कभी भी दुःखी हो सकता हो तो अंदाजमें लावो। जो दुःखी हुआ, वह अपने ज्ञानसे चिगा और दुःखी हुआ।

अज्ञानगतिका वेग— किसीके घर इष्टका वियोग हो गया हो और भले ही उससे अनुराग हो, आसक्ति हो तो वह पुरुष या महिलाएँ मुश्किल से रातको सो पाते हैं और जब नींद खुलती है तो नींदके खुलते ही याद आती है और रोना शुरू होता है। पड़ोसी लोग सुनते हैं। पहिले जरा रोनेकी स्पीड हल्की होती है, थोड़ी देर बाद रोनेकी स्पीड तेज हो जाती है और ऐसी तेज हो जाती है कि सुनने वालोंको भी रोना आ जाता है। यह क्या हो रहा है ? जैसे जैसे अपने ज्ञानसे दूर होकर बाहरमें भटककर अज्ञानमें लिप्त हो रहे हैं, वैसे ही वैसे ये क्लेश बढ़ रहे हैं, कोई दूसरा क्लेश देने नहीं आता है।

वियुक्त और शिष्टमें हानि लाभका योग— अच्छा भैया ! तुम्हीं बतावो कि दो भाई हैं, दो मित्र हैं, उनमेंसे एक मित्र मर गया। दूसरा मित्र जिन्दा है। अब यह बतलावो कि मरने वाला टोटेमें रहा या जीने वाला टोटेमें रहा ? यह निर्णय दो। मरने वालेको क्या परवाह है ? जिस जन्ममें जाता है नया शरीर पाता है, नई-नई बातें, नया रंग, नया ढंग पाएगा। अब जो जिंदा बच गए हैं, वे रात्रिको सवा दस बजे तक रोवेंगे और सुबह ३॥ बजेसे रोवेंगे। दिनमें जो मिलने वाले आएँगे, तब रोवेंगे। जब भी स्मरण किया तभी रोवेंगे। उस मरने वालेको तो खबर ही नहीं रहती कि हमारा भाई कहां होगा, हमारे मित्रजन कहां होंगे ? यह कुछ उसको खबर नहीं रहती है। जो अपराध करता है, वही दुःखी होता है। अपराध यह है कि अपने स्वभावकी दृष्टिसे चिगकर परकी ओर आकर्षण है।

हर्ष और विषादमें आकुलता— भैया ! हर्ष और विषाद दो चीजें मानी

आ ती हैं इस लोकमें। विषादमें आकुलता होती है कि नहीं होती है और हर्षमें आकुलता है या अनाकुलता? आकुलता बिना हर्ष भी नहीं किया जा सकता और विषाद भी आकुलता बिना नहीं किया जा सकता। यह प्रत्यक्ष देख लो। जैसे किसी बात पर तेज हँसी आ जाय तो सांस रुक जाती है, पेट भी दर्द करने लग जाता है, दुःख हो जाता है। कोईसा भी काम बिना आकुलताके कोई कर सकता है क्या? खूब बढ़िया आरामके साधन मिले हैं, खूब रसीले भोजन करनेका रोज-रोज समागम मिला है। क्या किसीको शांत मुद्राके साथ भोजन करते हुए देखा है? आकुलता रंच न हो और कौर सटकता जाए तो यह हो सकता है क्या? अरे, उसको तो सटकनेकी आकुलता, कौर उठानेकी आकुलता है। यह गणित लगता रहता है कि इस कौरके बाद किस कोर पर हाथ धरेंगे?

भोगोंकी आकुलतामयता— भैया! किसी भी प्रकारका हर्ष हो, देखा गया है कि आकुलताके बिना वह हर्ष नहीं होता। पंचेन्द्रियके विषयोंके भोगोंमेंसे कोईसा भी भोग आकुलताके बिना नहीं भोगा जा सकता है। पहिले आकुलता है, भोगते समय आकुलता है और भोगनेके बाद आकुलता है। समस्त योग खेदमय हैं। खेदमय किसे कहते हैं कि पहिले खेद, वर्तमानमें खेद, पीछे खेद। जब तक भी भोगोंका सम्बन्ध मनसे, वचनसे, कायसे है, तब तक उसके खेद ही खेद है। यह विषयकषायोंकी बात।

शुभ और अशुभभावमें आकुलताका गर्भ— अब जरा व्यवहारप्रतिक्रमण पर आइए। वह था अशुभ भाव और यह है शुभ भाव, पर आकुलता बिना, क्षोभ बिना, तकलीफ बिना कोई किसीको गुरु बनाता है? कोई अपने दोष किसी गुरुको बताता है? गुरुजन जो प्रायश्चित्त कहेंगे। आकुलता बिना, क्षोभ बिना उस दण्डको भी ग्रहण क्या कोई करते हैं? अब यह बात दूसरी है कि इसकी आकुलता और किस्मकी है और अज्ञानीजनोंकी आकुलता और किस्मकी है। उस व्यवहारप्रतिक्रमणमें लगने वाले पुरुषके तो निश्चयप्रतिक्रमण ज्ञानका ज्ञानमें रम जाना है। इस प्रकारके प्रतिक्रमणका लक्ष्य हो, दृष्टि हो तो इस निश्चयप्रतिक्रमणकी नजरके प्रसादसे व्यवहारप्रतिक्रमण अमृतकुम्भ बनता है। नहीं तो जैसे घरका काम किया, वैसे ही लोकपूजाका काम किया। यदि आत्माका लक्ष्य न समझमें आए तो फर्क थोड़ा है, पर मूलमें फर्क नहीं है।

परिणामोंका परिणाम— एक कथानक है कि दो भैया थे, एक बड़ा और एक छोटा। बड़े भाईने छोटे भाईसे कहा कि तुम पूजा कर आओ और मैं रसोईके जलानेके लिए जंगलसे लकड़ी तोड़ लाऊँ। छोटा गया पूजामें और बड़ा गया लकड़ी बीनने। लकड़ी बीनने वाला भाई सोच

रहा है कि मैं कहां झंझटोंमें फंस गया, मेरा भाई तो भगवानके सामने आरती कर रहा होगा, खूब पूजा कर रहा होगा, भगवानकी भक्तिमें लीन हो रहा होगा। यह तो सोच रहा है लकड़ी बीनने वाला भाई और पूजामें खड़ा हुआ भाई सोच रहा है कि हमको यहां कहां ढकेल दिया। वह भाई तो जामुनके पेड़ पर चढ़ा होगा, जामुन खा रहा होगा, आम खा रहा होगा खूब मजा कर रहा होगा, फिल्मी गानेमें मस्त हो रहा होगा, यह सोच रहा है पूजा वाला भाई! अब भावोंकी ओरसे बताओ कि पुण्यबंध किसके हो रहा है और पापबंध किसके हो रहा है? पुण्यबंधको वहां लकड़ी बीनने वालेके हो रहा है।

तार्तीयकी भूमि—यहां इससे भी और ऊंची बात कही जा रही है कि ये जो व्यवहार प्रतिक्रमण आदिक नियम संकल्प आदिक हैं यदि शुद्ध दृष्टि सहित हैं तो यही बनता है अमृत और शुद्धदृष्टि बिना हैं तो जैसे अज्ञान दशा विषकुम्भ है वैसे ही अब भी यह दशा विषकुम्भ है क्यों कि अन्तरमें उसके मोक्षमें लगनेकी बात नहीं आ पाती है। आत्माके सहजस्वरूपको बताने वाले जैन दर्शनका आप लोगों ने समागम पाया, श्रावक कुल पाया, जहां घरके बाहरमें चलनेमें व्यापारमें सर्वत्र अहिंसाका वातावरण रहता हो ऐसे कुलमें जन्म पाया और जहां आत्माके सहज सत्य स्वरूप पर पहुंचानेका निराला ढंग बताने वाला उपदेश पाया हो, ऐसे दुर्लभ समागमको प्राप्त कर इतना तो मनमें उत्साह बनाओ कि ये बाहरी चीजें मायारूप हैं, ये धन वैभव जग-जाल हैं, झंझट हैं, जड़ हैं, इनके लिए हम जिन्दा नहीं हैं। ये तो चीजें जैसे आ जायें उसके ही अनुकूल व्यवस्था बना लें।

अहितकी अपेक्षाका संकेत—भैया! हम अपने मन चाहे विकल्पोंके द्वारा धन संचय न करें किन्तु जो उदयानुसार आ गया उसके अनुसार हम अपनी व्यवस्था बनाकर उस चिंतासे मुक्त हो जायें। यह दुर्लभ जीवन चिंतामें ही यदि बिता दिया तो बेकार जीवन गया। किसी अन्य चिंतामें जीवन बिताया तो व्यर्थ गया। ये कुछ नहीं हैं। बढ़िया कपड़े पहिननेको मिलें तो क्या, न मिलें तो क्या? पचासों कपड़े रख लिये तो क्या, और दो ही धोतियों से जिन्दगी निकाल दिया तो क्या? बल्कि बढ़िया कपड़े पहिननेसे नुकसान हैं, अपनी साधना रखनेमें भी बढ़िया कपड़े हानिकारक हैं। रागके विकल्प, घमंडके विकल्प, क्षोभके विकल्प और जरा-जरासी बातोंमें ऐंठ आनेकी आदत बनाना ये उसकी एवजमें आ जाएंगे। सो यहां तो गुजारा करना है।

जीवनका सत् लक्ष्य—भैया! काम तो यह है कि आत्मदृष्टि करके

धर्मपालन करके सदाके लिए संकटोंसे छूट जाएं, त्रस और स्थावरोंमें जन्म लेने और दुःख भोगते रहनेके संकटोंसे छूट जायें, उसके लिए हम आप पैदा हुए हैं। ऐसा अन्तरङ्गमें श्रद्धान रखो। जिनका विकल्प कर करके हम परेशान हो रहे हैं वे जीव एक भी मेरे कल्याणमें, हितमें, सुखमें शांतिमें साथी न होंगे। अतः जीवनका ध्येय दुनिया की निगाहमें अपनी पोजीशन रखना यह न होना चाहिए। पोजीशन बनानेसे बनती भी नहीं है। उस पोजीशन न चाहनेके भाव वाले पुरुषमें ऐसा महत्त्व होता है कि स्वयं उसकी पोजीशन बनती चली जाती है। तो इस कथनका प्रयोजन यह है कि अपराध रहित होकर यदि व्रत, संयम, नियम, प्रतिक्रमण आदिक किए जाएं तो वे अमृत हैं, भले हैं और अपराध सहित इन व्यावहारिक धर्मोंको करते चले जाएं तो वे पूर्ववत् विषकुम्भ हैं।

निमित्तनैमित्तिकता—कर्म यह नहीं देखते हैं कि यह मंदिरमें बैठा है इसलिए न लगो। अलंकारसे कह रहे हैं परसोनीफिकेशन है। कोई कर्म कहने आता नहीं। कर्म यह नहीं देखते हैं कि यह आसन मारकर आंखें बन्द करके माला फेर रहा है, इसको हम न बांधें। कर्मोंका और अशुद्ध परिणामोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। किसी भी जगह हो, यदि परिणाम अशुद्ध है तो कर्म बंध जायेंगे। जिन्हें कर्मबंधन न चाहिए, संसारके संकट न चाहिएँ उन्हें क्या करना है? तो मोटे शब्दोंमें कहो कि रही सही ख्यालमें आई हुई जो बातें उठती हैं उन्हें हम धूलमें न मिला दें, मेरी कुछ इज्जत नहीं है, मुझे कोई लोग जानते ही नहीं हैं और जानते हैं कोई तो वे अपनेमें रम जाते हैं, उसका लक्ष्य ही नहीं रखते हैं।

महासंकटका मूल पर्यायबुद्धि—सो भैया! एक यह निर्णय कर लो अपने जीवनको सुखी रखनेके लिए कि हम दुःखी हैं तो अपन ही अपराध किया सो दुःखी हैं। प्रथम अपराध यह है कि हम शरीरको मान रहे हैं कि यह मैं हूं। इस अपराधकी बुनियाद पर अब पचासों अपराध हो रहे हैं। नातेदारी मान लें—यह मेरा अमुक है, यह मेरा अमुक है और देखो तो गजब कि नातेदारीका क्या अर्थ है—न मायने नहीं हैं, मायने तुम्हारे नहीं हैं तुम्हारे इस बातका नाम है नातेदारी। तो अर्थ तो यह है और उसी शब्द द्वारा आकर्षण हो रहा है परकी ओर। यह मेरा कुछ है। सो प्रथम तो शरीरको माना कि यह मैं हूं, इस अपराधके बुनियाद पर विषय भोगनेके अपराध, कषाय करनेके अपराध, परको अपना माननेके अपराध ये सारे अपराध हो रहे हैं। इन सब अपराधोंको मिटाना है एक साथ तो एक ही उपाय है—ज्ञानघन, आनन्दमय एक आत्मस्वभावमें अपने ज्ञानको लगा दो तो सारे अपराध एक साथ विध्वस्त हो सकते हैं।

संकटविनाशका उपाय—जमुना नदीमें चोंच उठाए हुए कछुवे पर

पानीमें पचासों पक्षी एक साथ आक्रमण करें तो उन पचासोंके आक्रमण को विफल कर देनेका कछुवेके पास एक ही उपाय है ? पांच अंगुल नीचे ही अपनी चोंच पानीमें कर ले तो क्या करेंगे सारे पक्षी। पानीसे बाहर चोंच उठाता है तो पचासों पक्षी सताते हैं। पानीमें चोंच डुबा ले तो कोई भी पक्षी उसे नहीं सता सकता है। इसी तरह ज्ञानसमुद्रमें से हम, अपनी उपयोग चोंचको बाहर निकालते हैं तो पचासों सतानेके निमित्त बन जाते हैं और केवल उस उपयोगको थोड़ा ही अन्तरमें डुबा लें, परका ख्याल न रहे तो सारे आक्रमण विफल हो जायेंगे।

संयमविषयक त्रिपदी—इस अप्रतिक्रमण आदिकके प्रकरणको जानने के लिए एक नया दृष्टांत लें—और वह दृष्टांत लें संयमका। संयमके सम्बन्धमें तीन स्थितियां हैं—असंयम, व्यवहारसंयम और निश्चयसंयम। असंयममें संयम नहीं है और निश्चयसंयममें व्यवहारसंयम नहीं है, इसलिए निश्चयसंयमका भी नाम असंयम रख लिया, तो असंयम, संयम और असंयम। पर निकृष्ट और उत्कृष्ट दोनोंका असंयम नाम धरनेमें थोड़ा कुछ संशय भी हो सकता है इसलिए यह नाम रखो—असंयम, व्यवहारसंयम और निश्चयसंयम। जो अज्ञानी जनोंमें पाया जाने वाला असंयम है वह शुद्ध आत्मद्रव्यकी दृष्टि नहीं करा पाता है इसलिए वह असंयम स्वयं अपराध है। सो विषकुम्भ है ही, याने दया न पालना, व्रत न करना, ५ पापोंमें रत रहना, इन्द्रियोंके विषयोंके भोगनेमें लीन रहना यह सब असंयम कहलाता है। तो यह सब असंयम विषकुम्भ हैं, विष भरा घड़ा है। उसका तो विचार ही क्या करना है ? उसे तो सभी लोग स्पष्ट जानते हैं कि अज्ञानीजनोंका असंयम विष है।

निश्चयसंयमशून्यद्रव्यसंयमकी विषकुम्भता—जो द्रव्यरूप संयम है व्यवहारसंयम, जीवोंकी दया करना, लोगोंका उपकार करना, अर्थात् बाह्य वस्तुके त्यागमें लगना उपवास व्रतमें लगना, यह जो व्यवहारसंयम है सो यह व्यवहारसंयम भी समस्त अपराध विषको, दोषोंको दूर करनेमें समर्थ है। इस कारण अमृत कुम्भ है। भला है लेकिन असंयम और व्यवहारसंयम इन दोनोंसे विलक्षण जो निश्चयसंयम है उस तीसरी भूमि को जो नहीं देख पा रहे, नहीं छू पा रहे उनका वह व्यवहारसंयम अपना काम करनेमें समर्थ नहीं है। आत्माको शांतिकी ओर ले जाने तकमें समर्थ नहीं है, अतः निश्चयसंयमशून्य द्रव्यसंयम भी विषकुम्भ है।

स्वभावधारणा बिना विडम्बनायें- देखा होगा भैया ! अनेकको कि व्रत, तप, आदि करते हुए भी गुस्सा भरी रहती है और जरासी बातमें टेढ़े टाढ़े बोलने लगते हैं। उसका कारण क्या है ? उनका वह संयमपालन

विधिवत् नहीं है, क्योंकि वहां निश्चय संयमकी दृष्टि भी नहीं है। शांति कहांसे हो ? पूजा भी करते, विधान भी करते। और कहीं कहते-कहते गुस्सा आ जाए किसी बात पर तो गुस्सा आ जाना कोई संयमकी चीज है क्या ? जहां कषाय जगता हो, उसे तो अपन संयम नहीं कहते हैं। उसके तो विष भरा है, अपराध अन्तरमें भरा है, इसे अपराध कहो, विष कहो, दोष कहो, एक ही अर्थ है। जो आत्माके शांतस्वभावको, ज्ञानानन्दस्वरूप को नहीं पहिचानते और मुझे रागद्वेषसे दूर रहकर इस ज्ञानानन्दस्वरूपमें लगना है—ऐसी जिसकी बुद्धि नहीं है, दृष्टि नहीं है, वह व्यवहारमें संयम का कठिन तप भी करता रहे तो भी अन्तरमें विषरूप है, परदृष्टिरूप है, उलझनरूप है।

स्वभावरतिकी स्वयंसिद्धिरूपता— सो जो इस तृतीय भूमिको नहीं देखता, शुद्ध ज्ञानवृत्तिको नहीं पहिचानता, ऐसा पुरुष अपने कार्योंके करने में असमर्थ है और उल्टा विपक्षरूप कार्य होता है, इसलिए वह व्यवहार संयम विषकुम्भ है, जो निश्चयसंयमका स्पर्श नहीं करता। वह व्यवहार-संयम चूँकि आत्मानुभव नहीं करा सकता, इस कारण वह भी दोष है। मगर निश्चयसंयम, निश्चयप्रतिक्रमण आदिक परिणामरूप तीसरी भूमि स्वयं शुद्ध आत्माकी सिद्धिरूप है और उन समस्त अपराध-रूप विषदोषोंको नष्ट करनेमें समर्थ सर्वंकष है, इसलिए वह तृतीय भूमि निश्चयवृत्ति स्वयं अमृतकुम्भ है और उस निश्चयवृत्तिके कारण, उस ज्ञाना-नन्दस्वभावकी उपासनाके कारण यह व्यवहारसंयम, व्यवहारप्रतिक्रमण ये भी अमृतकुम्भ कहलाते हैं। निश्चयका सम्बन्ध पाकर व्यवहारसंयममें भी सामर्थ्य है, सो द्रव्यसंयम भी अमृतकुम्भ है और निश्चयका सम्बन्ध न रहे तो व्यवहार जैसे और हैं, वैसे धर्मका व्यवहार है।

अपने प्रभुपर अन्याय— भैया ! यह बात इसमें सिद्ध की है कि यह जीव ज्ञानानन्दमात्र रहनेकी परिणतिसे ही निरपराध होता है। जहां ज्ञानस्वभावसे चिगकर बाह्यपदार्थोंको उपयोगमें लेकर राग किया, द्वेष किया कि अपराध हो गया। अपने ही घरके बच्चोंसे कोई प्रेमसे राग करे, उनको ही खिलाकर मस्त रहे और वह कहे कि हम अपना ही तो काम कर रहे हैं, किसी दूसरेको तो हम नहीं सता रहे हैं, हम तो बेकसूर होंगे। अरे ! तुम बेकसूर नहीं हो, तुम्हारा लड़का है कहां ? तुम तो भ्रम कर रहे हो कि यह हमारा है। बड़ा तीव्र भ्रम यह है कि जो ऐसी आत्मीयता जगती है कि आ गए मेरे बेटे, पोते। अभी दूसरे बालककी टांग टूट जाए तो खेद न होगा और अपने बच्चेका जरा किवाड़में ही हाथ फँस जाए तो दया आ जाएगी। तो यह दया है क्या ? यह तो मोह है। दया तो उसे

कहते हैं कि मोह बिना ज्ञानप्रकाश होकर भी करुणाभाव उत्पन्न हो। दया होती तो सब पर एकसी बरसती। जैसे घरके बच्चों पर, वैसे अन्य बच्चों पर और दयाका तो यह बहाना करते और मोहको पुष्ट करते।

अपने प्रभु पर सभ्य शब्दोंमें अन्याय— जैसे बहुतसे लोग धर्मकी बात कहते हैं और उनसे कहो कि तुम रिटायर हो, निवृत्त हो, अब तुम अपने ही ज्ञान-ध्यानमें रहो, अब व्यापार छोड़ दो, बहुत हो गया संतोष करो, अल्प आरम्भ करो, अल्प परिग्रह करो, धर्मकार्यमें लगो, कभी घर-द्वार छोड़कर दो चार महीने सत्संगमें रहो। उत्तर क्या मिलता है कि हमारा मन तो बहुत करता है, पर छोटे बच्चे हैं, छोटे पोते हैं, उन पर दया आती है। हम चले जायेंगे तो इनकी रक्षा कैसे होगी? सो भैया! दया नहीं आती है, दयाका बहाना करते हैं और मोहको पुष्ट करते हैं। यदि तनिक अच्छे पढ़े-लिखे हुए मोही जीव तो कहते हैं कि साहब, चारित्रमोह का उदय है इसलिए घरमें रहना पड़ता है। तृतीय भूमि जब तक नहीं दिखती है, रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपना तत्त्व जब तक दृष्टिमें नहीं आता है, तब उस आनन्दका अनुभव नहीं हो पाता, तब तक बाहरमें व्यवहारसंयम आदिक भी हों तो भी शांति नहीं मिलती है। शांतिका सम्बन्ध ज्ञानवृत्तिसे है, हाथ-पैर चलानेमें नहीं है।

वास्तविक स्वास्थ्य— जैसे किसीके १०५ डिग्री बुखार हो और बुखार रह जाए १०२ डिग्री तो वह बतलाता है कि अब हमारा स्वास्थ्य ठीक है। वस्तुतः ठीक नहीं है, अभी १०२ डिग्री बुखार है। इसी तरह जो पापमें मन, वचन, काय लगा रहे थे और उससे बड़ी विह्वलता मच रही थी, क्लेश हो रहा था, सो अब कुछ विवेक जगा, सो पापकी प्रवृत्ति छोड़कर धर्मचर्चा, पूजा, भक्ति, दया, धर्म, वात्सल्य आदि प्रवृत्तियोंमें मन, वचन, कायको लगाया था। सो उस महाव्याधिके सम्बन्धी अशुभोपयोगके मुकाबले ये हमारे सब कर्तव्य हैं, धर्म हैं, पर जहां वस्तुस्वरूपका विचार किया जाये तो यह भी अपराध है। वह महा अपराध है, यह अल्प अपराध है। ज्ञानी जीवके इस अपराधसे भी ऊपर दृष्टि शुद्ध ज्ञानवृत्तिकी रहती है। सो निश्चयसंयमका लक्ष्य हो तो व्यवहारसंयम अमृतकुम्भ है। निश्चयसंयमका कुछ पता न हो, लक्ष्य ही न हो, बोध ही न हो तो वह व्यवहारसंयम भी असंयमवत् न सही, पूरी तौरसे न सही तो भी अपराधरूप है और इसलिये इस द्रव्यप्रतिक्रमण आदिकको विषकुम्भ कहा है।

अपराधकी अशान्त प्रकृति— भैया! कब है यह द्रव्यप्रतिक्रमण विषकुम्भ? जबकि निश्चयप्रतिक्रमणकी खबर न हो। इस कारण यही निश्चय करना कि निश्चयप्रतिक्रमण न हो तो व्यवहारप्रतिक्रमण भी अपराध ही

है। भगवान तो ज्ञानस्वरूप है। जो भगवानको ज्ञानपुञ्जके रूपमें नहीं निहारता और ऐसे हाथ पैर वाला है, ऐसे रूप रंग वाला है, ऐसा रहने चलने वाला है, अथवा ऐसे कपड़े पहिनने वाला है, ऐसा भेष भूषा करने वाला है, ऐसे शस्त्र आदि रखने वाला है। जो जिस रूपमें, जो पुद्गलोंमें अपनी वासना रखता हो उस रूप तका करे और ज्ञानपुञ्ज ज्योतिस्वरूपको भुला दे तो क्या उसने भगवानको पाया है? नहीं पाया है। तो क्या पाया है? जैसे यहां पड़ौसके आदमियोंको पहिचाना है इस ढंगसे उन्हें पहिचाना है पर भगवानको नहीं जाना है। इस प्रकार ज्ञानवृत्तिरूप निश्चय संयम, निश्चयप्रतिक्रमण आदिक इन पर लक्ष्य नहीं है, इन पर दृष्टि नहीं है, और स्वभावसे पराङ्मुख होकर बाह्य क्षेत्रमें दृष्टि लगाकर यह जीव है, इसकी दया करना है, हिंसा नहीं करना है। देखो हमने सत्य बोलनेका नियम लिया है, हम झूठ न बोलेंगे, सारी बातें करें पर ज्ञान स्वभावका स्पर्श नहीं है तो जैसे असंयमीजन असंयमकी प्रवृत्ति करते हैं और अपने आपमें स्वाधीन आनन्द नहीं पाते हैं इसी प्रकार यह व्यवहार संयममें लगा हुआ पुरुष भी व्यवहारधर्ममें प्रवृत्ति करता हुआ भी निश्चय स्वरूपके दर्शन बिना, स्पर्श बिना वह भी किसी विह्वलतामें पड़ा हुआ है।

ज्ञानावगाह—भैया! परम संतोषकी दशा है तो इस अगाध ज्ञान-सागरमें अपने उपयोगको मग्न करनेकी दशा है। उसको लक्ष्यमें लिए बिना जो धर्मके लिए मन वचन कायकी प्रवृत्ति की जाती है उसमें मंदकषाय तो अवश्य है, उन विषयभोगोंकी अपेक्षा, न वहां वैसी विह्वलता है पर पर्दा कुछ भी बीचमें पड़ा है तो दर्शन नहीं कर पाते हैं। कहते हैं लोग कि तिलकी ओट पहाड़ है। इसका अर्थ यह है कि पहाड़ तो है १०-५ मीलका लम्बा चौड़ा और आंख है तिलके दानेके बराबर, जिस आंखके द्वारा इतना बड़ा पहाड़ नजर आता है उस आंखके सामने तिलका दाना यदि आ जाय तो वह पहाड़ नजरमें नहीं आता है। या कोई छोटासा कागजका टुकड़ा ही ले लो, यदि उसे ही आंखके सामने कर दिया जाय तो ढक लेता है वह सारे पहाड़को। एक तिलकी ओटमें सारा पहाड़ अवरुद्ध हो गया। इसी प्रकार एकमात्र उपाय सहज आत्मस्वभावकी दृष्टि बिना ये सारी प्रवृत्तियां अज्ञानमय बन गयी हैं।

अज्ञानकी गन्ध—भैया! कितना ही कुछ करें आत्मसत्त्वके ज्ञान बिना उसका फल आत्मसंतोष नहीं मिलता है और कितना ही हैरान होकर बैठते हैं। हम तो दुनियाके लिए, समाजके लिए इतना काम करते हैं, इतनी व्यवस्था बनाते, इतना प्रबंध करते, लेकिन ये लोग ऐहसान मानने वाले नहीं हैं। अरे यह जीवका कौनसा विष फैल रहा है? वही

अज्ञान तुम दूसरे के लिए कुछ कर रहे हो क्या ? जो तुम व्यवस्था करते हो, समाजका उपकार, देशका उपकार, यह किसके लिए करते हो ? दुनियाके लिए अच्छा कहलाऊँ, ज्ञानवान कहलाऊँ, लोग मेरा उपकार मानें, लोकमें मेरा महत्त्व हो। इस मिथ्या आशयकी पुष्टिके लिये केवल विकल्प किया जा रहा है। अरे यह कितना अज्ञान भाव किया जा रहा है ?

आत्महितके लक्ष्यमें क्षोभका अभाव—यदि इस अज्ञान भावको नहीं किया जाता और केवल यह परिणाम रहता कि मुझे अपने उपयोगको विषय कषायोंके पापमें नहीं फंसाना है इसलिए दीनोंका उपकार करके, दुखियोंके दुःख दूर करके, धर्मात्माओंके बीच धर्मकी चर्चा करके अपने क्षणोंको, अपने परिणमनको सुरक्षित कर लें, खोटे परिणामोंमें न जाने दें, इस लाभके लिए यदि मैं ये सब कार्य करता होता तो जिसके लिए करता वे औंधे भी चलते, हमें गाली भी देते, उलटे भी जाते, कहना भी न मानते तो भी उसे आत्मसंतोष होता कि मैंने अपने उपयोगको दूषित बातोंसे बचा लिया, उसका तो लाभ लूटा।

परमार्थस्वरूपपरिचयका महत्त्व—तो इस तृतीय भूमिसे ही जीव निरपराध होता है, ज्ञाता द्रष्टा रहने के साधकतम परिणामोंसे ही यह जीव निरपराध रहता है, उस उत्कृष्ट तृतीय अवस्थाको पानेके लिए ही यह द्रव्यप्रतिक्रमण है। कोई आदमी अटारी पर चढ़नेका तो लक्ष्य न रखे, १०-१२ सीढ़ी हैं मान लो—दो चार सीढ़ियों पर चढ़े उतरे, यही करता रहे; भाव न बनाए कि मुझे ऊपर जाना है। लक्ष्य ही नहीं है जिस पुरुषका उसे आप भी फालतू और बेकार कहेंगे। दिमाग खराब है, व्यर्थ की चेष्टा कर रहा है, यों बोलेंगे, इसी तरह जिसके निश्चय संयम प्रतिक्रमणका लक्ष्य ही नहीं है, मुझे केवल जानन देखनहार रहना है, निज जो सहज ज्योतिस्वरूप पारिणामिक भाव है वह मेरी दृष्टिमें रहे, बस जानता रहूं, सभी पदार्थ जाननेमें आएँ जैसे हैं तैसे, जैसे यथार्थ हैं तैसे जाननेमें आएँ, ऐसी ज्ञाता द्रष्टाकी वृत्ति रहने का जिसके लक्ष्य नहीं है वह झांझ बजावे, मंजीरा बजावे, नृत्य करे, पूजा करे, यज्ञ रच ले, विधान बनाले। सब जगह उसकी दृष्टि है इस पर्यायके ख्यातिकी।

निश्चयवृत्तिसे अन्तर्बाह्यवृत्तिकी सार्थकता—भैया ! पर्यायबुद्धिके यह भाव कहां है कि मुझे विषय कषायोंसे बचकर रहना है इसलिए यह कर रहा हूं। यदि यह भाव होता तो उसे अपनी वृत्ति पर संतोष होता। किन्तु संतोष तो दूर रहो, अनुकूल व्यवस्था न बनी, लोग बड़ाई न करें तो उसे मनमें क्रोध आता है। सो यह निश्चय करो कि उस निश्चय प्रतिक्रमणरूप

उत्कृष्ट अप्रतिक्रमणकी प्राप्तिके लिए ही यह व्यवहारप्रतिक्रमण है, यह व्यवहार धर्म है। इससे यह मत मानो कि यह उपदेश द्रव्यप्रतिक्रमण आदिक को छुटाता है। छुटाता नहीं है, किन्तु यह उपदेश है कि केवल व्यवहारप्रतिक्रमण आदिकसे ही मुक्ति नहीं होती है, प्रतिक्रमण और निकृष्ट प्रतिक्रमण इनका जो विषय नहीं है ऐसा जो तृतीय अप्रतिक्रमण है, निश्चयप्रतिक्रमण निश्चयसंयम स्वभाव की उपासना, निर्विकल्प वृत्ति वीतराग स्वसम्वेदन शुद्ध आत्माकी सिद्धि ऐसे ही दुष्कर परिणाम अर्थात् जो कठिनतासे बनता है पुरुषार्थ, वह परिणाम ही इस जीवका कुछ हित कर सकता है। इस निश्चयप्रतिक्रमणके बिना व्यवहारप्रतिक्रमण आदिक से मुक्ति नहीं हो सकती है, अतः उस निश्चय स्वभाव की ओर जाना चाहिए।

निश्चयप्रतिक्रमणकी शुद्धता—प्रकरण यह चल रहा है कि अज्ञानी जनोंकी जो अप्रतिक्रमण आदि रूप दशा है वह तो विषकुम्भ है ही किन्तु भावप्रतिक्रमणके साथ होने वाला द्रव्यप्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है। वह द्रव्यप्रतिक्रमण भी यदि भावप्रतिक्रमण न हो तो विषकुम्भ हो जाता है। प्रतिक्रमणका लक्षण बताया गया है कि पूर्वकृत जो शुभ और अशुभ भाव हैं, जिनका नाना विस्तार है उन शुभाशुभ भावोंसे अपने आपको हटा लेना सो प्रतिक्रमण है। यही है निश्चयप्रतिक्रमणका लक्षण।

सकल विपदावोंके विनाशका एक उपाय—भैया! जगत्में विपत्तियां अनेक हैं। कितनी ही तरहकी विपत्तियां हैं तो कमसे कम इतना तो मान ही लो कि जितने ये मनुष्य हैं और जितने पशुपक्षी कीड़े मकौड़े, ये सब दृष्टिगत होते हैं उनकी जितनी संख्या है उससे हजार गुणी तो विपत्तियां मान ही लो—क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपनेमें हजारों प्रकारकी विपत्तियां महसूस करता है। दिन भरमें कितने विकल्प विपत्तियां हो जाती हैं। बड़ा हो, छोटा हो, ज्ञानी हो, मूर्ख हो, सबके अन्तरमें मनमें बिजली की तरह कितनी ही विपत्तियोंकी दौड़ हो जाती है। कितने ख्याल बनाए हुए हैं, धनका जुदा ख्याल, परिवारका जुदा ख्याल, शारीरिक स्वास्थ्य कमजोरीका जुदा ख्याल, कोई मेरी बात मानता है कोई नहीं मानता है इसका जुदा ख्याल, और अलग-अलग क्या बताया जा सकता है? कितनी ही विपत्तियां तो ऐसी हैं कि जिनका न रूप है, न मुँहसे कहा जा सकता है और अनुभवमें आता है। इस तरह विपत्तियां तो अनेक हैं किन्तु उन सब विपत्तियोंके मेटनेकी तरकीब केवल एक है

सकल आधियोंके व्ययकी एक औषधि—भैया! यह बड़ी अच्छी बात है कि जितनी विपत्तियां हैं, उतनी अगर मेटनेकी तरकीबें हों तो बहुत

परेशानी हो। यह आत्मदेवकी बड़ी करुणा है, प्रभुका बड़ा प्रसाद है कि संसारके समस्त संकटोंके मिटानेकी औषधि केवल एक है। क्या है वह एक औषधि? जी तो चाहता होगा कि बोलें कि वह क्या एक औषधि है, क्योंकि बहुत बड़ी उत्सुकता होगी कि संकटोंके मारे तो हम परेशान हो गए हैं और कोई त्यागी मुझे एक दवाई ऐसी बता रहे हैं कि सारे संकट दूर हो जाएँ। ऐसा सुनकर किसको उमंग न आएगी कि वह है क्या एक दवा? मगर उस दवाको अभी बतायेंगे तो बहुतसे लोग तो निराश हो जायेंगे कि अरे बड़ी उत्सुकतासे तो सुन रहे थे कि यह एक ही दवा ऐसी बतावेंगे कि हमारे सारे संकट दूर हो जावेंगे। क्या-क्या संकट हैं? मुन्ना बात नहीं मानता सो वह बात मान लेगा, भाई लड़ते हैं सो वे हाथ जोड़ने लगेंगे और देवरानी, जेठानी अच्छी तरह नहीं बोलतीं सो वे हमारे लिए फूल बिछा देंगी—ऐसी कोई दवा बतावेंगे।

अनात्मपरिहार व आत्मग्रहणरूप ज्ञानवृत्तिकी सर्वौषधिरूपता—सुनते तो हो उत्सुकतासे, किन्तु साहस करके सुनो कि वह एक औषधि क्या है? बाहरसे सबका ख्याल छोड़ो और इन्द्रियोंकी संभाल करके, बन्द करके अपने आपमें ऐसा अनुभव करो कि जो कुछ भाव बीत रहे हैं, मुझ पर जो कल्पनाएँ और विचार आ रहे हैं, इस आत्मभूमिमें इन सबसे न्यारा एक चैतन्यमात्र हूं—ऐसी दृष्टि बना लें तो सब संकट दूर हो जायेंगे। आपको यह शंका हो रही होगी कि हमें तो अंदाज नहीं हो रहा है कि इस एक औषधिसे हमारे वे सब संकट दूर हो जायेंगे। लोग तो न मानेंगे कि इस औषधिसे तमाम कष्ट मिटेंगे। तो भाई हाथ जोड़ने न आवेंगे। अरे भैया! क्या सोचते हो? ऐसे मोक्षकी इस औषधिके सेवनसे हमारेमें किसीका विकल्प ही न रहेगा। फिर संकट क्या? संकट तो एकमात्र विकल्पोंका है। है किसीका यहां कुछ नहीं। विकल्प बना लिया है और ऐसी परिस्थितियां हो गयी हैं कि उनको सुलझाना कठिन हो गया है।

भेदभावना व गम्भीरता—भैया! जब यह आत्मा इस शरीरसे भी भिन्न है तो अन्य वैभव और पुत्रादिकका तो कहना ही क्या है? लोग उन्हें मान रहे अपना और वे हैं अपने नहीं। वे तो अपने परिणमनसे विदा होंगे या आयेंगे या कुछ होंगे। उन पर अधिकार नहीं है और मान लिया कि मेरा अधिकार है, बस यही क्लेश है। कदाचित् आपको कोई प्राणी ऐसा भी मिल गया हो कि स्त्री, पुत्र या मित्र सदा आपके अनुकूल रहता हो, आपसे बहुत अनुराग करता हो तो भी धोखेमें न रहिए, आसक्त मत होइए। जिन्दगीभर भी कोई अनुराग करेगा और उस अनुरागमें अपनेको धन्य माने, अपना बड़प्पन माने, अपनेको कृतार्थ माने

तो यह उसकी भूल है। उसके वियोगके समय अपनेको उतने क्लेश होंगे कि सारे वर्षोंमें जो सुख भोगा है, वह सब सुख अन्तर्मुहूर्तमें कभी इकट्ठा होकर बदला ले लेगा।

अमृततत्त्वकी उपादेयता— समस्त संकटोंकी केवल एक औषधि है— समस्त विभावोंसे विविक्त चैतन्यमात्र अपनेको अनुभव करना। गप्प करनेसे, बातें करनेसे उसका आनन्द नहीं आता। जो कर सके उसकी यह बात है, इसे गृहस्थ भी कर सकते हैं। न टिक सकें इस भाव पर, किन्तु किसी क्षण इसकी झलक तो पा सकते हैं। अमृतकी एक बूँद भी सुखप्रद होती है। वह अमृत जो सुखदायक है, वह जरूर कहींसे ढूँढकर उसको आत्मस्थ कर लो जहांसे मिल जाए अमृत। बगीचेसे मिल जाए तो वहांसे तोड़ लो। किसी हलवाईके पास मिल जाए तो वहांसे ले आवो। जहांसे मिले अमृत तो जरूर एक बार पी लो, क्योंकि अमृतके पीनेसे अमर हो जावोगे। कभी भी न तो कोई संकट आएगा और न कभी मरेंगे। ऐसा अमृत जरूर थोड़ासा हथिया लो।

अमृततत्त्वकी खोज— ठीक है ना, अब चलो ढूँढने अमृतको। जहां तुम चलो वहीं हम चलें और आनन्द पायें। अच्छा चलो फिर सब लोग हलवाईके यहां। वहां पर भी दृष्टि पसारकर देखें तो एक भी हलवाई न मिलेगा, जिसके यहां कोईसी भी मिठाईमें अमृत मिले कि जिसको खानेसे और पीनेसे वह अमर हो जाएगा और संकट न आयेंगे। बल्कि चोरी-चोरीसे खा लेंगे तो खूब खा लेंगे, क्योंकि चोरीका माल रहता है तो उस के खा लेनेसे खूब दस्त शुरू हो जायेंगे। हलवाइयोंके यहां भी वह अमृत न मिलेगा। अब चलो बगीचेमें। कोई भी फल ऐसा नहीं है कि जिस फल के खानेसे यह अमर हो जाए और सब संकट मिट जायें।

विनाशीक वस्तुके अमृतपनेका अभाव— अरे भैया! पहिले उस अमृत का भी तो विचार कर लें। हम जिसको खा लेंगे, फल हो या रसा हो तो जिसे हम खा लेंगे, वही चीज मर मिटी, मर जाएगी। दांतोंके नीचे आ कर तब फिर जो खुद मर जाए, वह हमें अमर कर देगा, यह कैसे हो सकेगा? तब तो खाने-पीने लायक चीज में तो अमृत न मिलेगा।

अवियुक्ततत्त्वमें अमृतपनेकी संभावना— अब देखने लायक कोई चीज ढूँढो। शायद किसीके देखनेसे अमर हो जाएं, संकट मिट जाएँ। देखते भी जावो तो कोई ऐसी चीज न मिलेगी कि जिसके देखनेसे अमर हो जाएँगे, क्योंकि जो कुछ भी दृष्टिगोचर है, वे सब मर-मिटने वाले हैं। हम उनसे अमर होनेकी क्या आशा करें? तब एक निर्णय बनालो कि अब तो ऐसी चीज ढूंढो कि जो खुद न मरती हो और हमें शरण बन

सकती हो। अब एक ही खोज रह गई। देखो अच्छा, जो अपने पास रहे और फिर कभी अपनेसे अलग न हो। ऐसी कोई चीज ढूंढो जिसके सेवनसे यह आत्मा अमर हो सकेगा। मिला क्या खूब खोजनेके बाद ? किन्हींके तो हृदयमें समाधान हो गया होगा, किन्हींके अर्द्ध समाधान हो गया होगा और कोई अब भी इस प्रतीक्षामें होंगे कि ये खोलकर कह क्यों नहीं देते ? कौनसा वह अमृततत्त्व है, जिसके देखनेसे अमर हो जायेंगे ? क्यों इतनी प्रतीक्षा दिलाकर परेशान करते हैं ?

अमृत निज सहजस्वरूप— अच्छा सुनो—वह चीज जरा कठिन है, इसलिए देरमें बोली जा रही है। वह अमृत है अपने आपका सहजस्वभाव। उसका पान होगा, पी लेना पड़ेगा ज्ञानदृष्टिसे। उसके पीनेमें मुंह काम न देगा। वह आत्माका सहजस्वरूप चैतन्यभाव ज्ञाताद्रष्टामात्र आकाशवत् निर्लेप समस्त परभावोंसे विविक्त अनादि अनन्त अहेतुक सनातन स्वरसनिर्भर निरञ्जन टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वभाव उसकी दृष्टि होगी तो यह अमर भी होगा और सदाके लिए संकट भी मिटेंगे।

अमृततत्त्वकी उपेक्षा तरंग— भैया ! एक कहावत है—आढ़तियोंके बीचकी बात है। जैसे मान लो गल्लेके छोटे आढ़ती हैं, दूसरेकी अनाजकी गाड़ी बिकवा दें, सो कुछ मिल जाता है दूकानदारोंसे और कुछ मिल जाता है गाड़ी वालेसे, क्योंकि बंधा होता है। एक बल्देवा नामका आढ़तिया था। जब किसी समय भावकी खूब घटी-बढ़ी रहती है तो दूकानदार भी चिंतित रहता है और बेचने वाले भी चिंतित रहते हैं। सो भले ही चितामें पड़ें, किंतु कोई जब माल बेचनेको गया तो वह तो बेचना ही है, कोई अपना माल वापिस ले जाता हो, ऐसा नहीं है। वह तो बिकना ही है। सो एक बार ग्राहक और दूकानदारमें सौदा न पटा। सो गाड़ी वालेसे बल्देवा बोला कि तुम थोड़ा गम खावो और दूकानदारसे भी बोला कि तुम थोड़ा गम खावो, जरा नास्ता कर लो। फिर बल्देवा एक भजन बोलता है—

"लेवा मरे या देवा, बल्देवा करे कलेवा।"

अरे चाहे लेने वाला मरे, चाहे देने वाला मरे, बल्देवा तो ठाठसे कलेवा करेगा। हमें तो दोनों ही जगहसे मिलना है। क्या परवाह है ? सो इस अमृततत्त्वको यदि पीलो तो जगत्के पदार्थ चाहे वहां जाएँ, चाहे यहां जाएँ, क्या परवाह है ? जब परविषयक विकल्प ही नहीं रहा और ज्ञानदृष्टि ही जग रही है, तब वहां चिंताका अवसर ही नहीं है। वहां क्या शंका करनी कि अमुक दुःख कैसे मिटेंगे ?

अमृततत्त्वकी प्राप्तिके लिए प्रेरणा—भैया ! यह है अपना ज्ञानस्वरूप

अमृत तत्त्व। सबको छोड़कर और एकदम ज्ञानबलसे अपने अंतःस्वरूपमें घुसकर इस ध्रुव चैतन्यस्वभावको अपना लें, यह मैं हूं। ओह, इससे आज तक मिलन नहीं हुआ था, इसलिए दर-दर ठोकरें खानी पड़ी थीं। इसका ही मिलन अपूर्व मिलन है। हिम्मत करनी पड़ती है, मोही और कायर पुरुषोंसे बात यह बननेकी नहीं है, किन्तु भैया! इसमें कमजोरी क्या? घरके जितने सदस्य हैं उन सबका अपना-अपना भाग्य है। फिर अपने हितकी बातको कमजोर करना कुछ विकल्प ही है, अपने मित्र और परिवारजनोंका, उनका भी तो भाग्य है। और देखो भैया! गजब की बात जिनका भाग्य बड़ा है उनकी तुम्हें नौकरी करनी पड़ती है। वे तो अपने घरमें बैठे मौज कर रहे हैं, और उनकी चाकरी करने वाले आप पुण्यहीन हैं। आपसे भी कहीं अधिक वे पुण्यवान् हैं, जिनकी आप चाकरी कर रहे हैं सो क्यों पुण्यहीन होकर पुण्यवानोंकी फिकर कर रहे हो।

अबाधमें बाधाकी बनावट—कौनसी कमजोरी है कि जिससे अपने पंथमें नहीं उतरा जा रहा है और इस अमृततत्त्वमें उतरने पर निर्विकल्प दशा हो जायेगी। तब फिकर क्या है, दूसरे कुछ भी हों। दूसरोंसे दूसरे बँधे हुए तो नहीं हैं। उनमें से कोई गुजर गया तो जिस गतिमें जायेगा वहां दुःख यदि भोगेगा तो यहांका कौन उसे सहायता दे सकता है और इसी भवमें उनके पापका उदय आ जायेगा तो क्या तुम उन्हें कुछ सहायता दे सकोगे? फिर कौनसी असलियतकी बात है कि जिसके कारण अपने इस हितके मार्गमें नहीं उतरा जा सकता है। कोई बात किसीको न मिलेगी और व्यर्थकी बकवाद इतनी है कि अजी यह परेशानी है इसलिए हम कल्याणमें आगे नहीं बढ़ सकते। और है रंच भी किसीको परेशानी नहीं।

व्यर्थकी परेशानी—भैया! जितने यहां बैठे हैं उन सबका ठेका लेकर हम कह रहे हैं कि किसीको रंच भी बाधा नहीं है। पर हमारी बात मानोगे थोड़े ही। ये तो वैसे ही कह रहे हैं। न हमें कोई बाधा है, न तुम्हें कोई बाधा है और हमारी बात हम क्या कहें, हम ही पूरे नहीं उतर रहे और जान रहे हैं कि कोई बाधा है ही नहीं। बतावो इससे बढ़कर और क्या होगा कि तुमने भक्तिसे भोजन करा दिया, बाकी किसी भी समय कुछ फिकर ही नहीं। एक आध कपड़ा चाहिए तो मिल गया। बतावो हमें क्या परेशानी है? मगर व्यर्थ की बकवादकी कमेटी के हम भी एक मेम्बर हैं। पर ऐसा है कि कोई बकवास कमेटीका प्रेसीडेन्ट है, कोई मंत्री है, कोई उपमंत्री है, पर हम एक जनरल मेम्बर हैं। इतनी बात होगी मगर यह सब कितनी व्यर्थके विकल्पोंकी परेशानी है।

एक दवाके अनेक अनुपान—इन सब शुभ अशुभ परिणाम विशेषोंसे

जो अपनेको निवृत्त कर लेता है उसका ही नाम है प्रतिक्रमण। इसी प्रकार शेष सब ७ तत्त्वोंकी भी यही बात है। उपाय एक है। जो वर्तमानमें विभाव हो रहे हैं उनसे न्यारा ज्ञानमात्र अपनेको मान लें, बस इतनी सी औषधि है समस्त दुःखोंके मिटानेकी। फिर करने हैं सैकड़ों तरहके काम पूजा, जाप, दान और कितनी ही बातें। पढ़ाना, अभ्यास करना आदि बहुत सी बातें हैं। अरे भाई क्या करें? जो हठी बालक हैं उनकी आदत तो देखो कि दवा तो देना है सबको एक, मगर उन हठी बालकोंकी रुचि माफिक वह दवा किसीको बताशामें दे रहे हैं, किसीको मुनक्कामें दे रहे हैं, कोई त्यागी हठी बालक मिल गया, अब शक्कर नहीं खाये, बताशा नहीं खाये तो उसे मुनक्कामें दे रहे हैं, दवा सबको एक ही दे रहे हैं मगर जुदा-जुदा ढंगसे दे रहे हैं, उस दवाको पीना नहीं चाहता तो फुसलाकर, बहलाकर उस हठी बालकको भिन्न-भिन्न अनुपानके साथ दवा देता है। इटावा तो दवाओंका घर ही है।

सर्वसंकटहारी औषधि--सो ऐसी ही औषधि तो है हम सब लोगोंकी एक, कि वैभवसे भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप पर अपनी दृष्टि रखना अर्थात् यह मैं हूं और यह जो जगमग-जगमग रूपसे जो अर्थ परिणमन हो रहा है उतना ही मेरा काम है। इतनी श्रद्धा होना और ऐसा ही उपयोग बनाना सो समस्त संकटोंके मेटनेकी एक औषधि है।

उन्नत होनेकी शिक्षा --इस प्रकरणमें फिरसे दृष्टि दीजिए। यह बात यहां कही है कि जो अज्ञानी जनोंका निकृष्ट व्यवहार है वह और कुछ धर्ममार्गमें बढ़नेकी धुनिमें जो पापोंका त्याग, इन्द्रियोंका संयम आदिरूप जो व्रत व्यवहार है वह और एक केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेमें मग्न रहना एक यह पद--इन तीन पदोंमेंसे जहां मध्यके व्यवहार व्रत संयमको याने निश्चयशून्य व्यवहार संयमको भी जहां विष या हेय बताया है तो ऐसा जानकर यह दृष्टि न डालना कि वाह अच्छा रहा, अब यह व्रत भी हेय बता दिया, हमारे मन माफिक कथन कर दिया, ठीक है। यों प्रमादी होने के लिए नहीं कहा जा रहा है, किन्तु यह दृष्टि देना है कि ओह जहां द्रव्य-रूप यह सारा व्यवहार संयम भी विष बताया गया वहां पापकी तो कहानी ही क्या है? यह तो महा हलाहल विष है जिसके मौजमें मस्त बन रहे हैं।

प्रमाणवादमें सबकी संभाल-- भैया! जो निश्चयका आश्रय लेकर बहानाकर प्रमादी होकर अपनी यथातथा प्रवृत्ति कर रहे हैं, उनकी स्वच्छन्दताको भी मेटा गया है इस कथनमें और साथ ही यह उपदेश दिया है कि जो व्यवहारका पक्ष करके अपने द्रव्यके आलम्बनमें ही संतुष्ट हो रहे

हैं, शुभ भावोंमें ही तृप्त हो रहे हैं, उनको यह आलम्बन छुड़ाया गया है अर्थात् व्यवहारके आलम्बनसे जो यह मन अनेक प्रवृत्तियोंमें भ्रमण करता था, उसे इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मामें ही लगाया गया है। सो जब तक इस विज्ञानघन आत्माकी प्राप्ति न हो, तब तक हे मुमुक्षु जनों! इस चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वके स्वरूपकी जानकारी बनावो और हर प्रयत्नसे एक निज आत्मतत्त्वमें मग्न होनेका उद्यम करो, मोहको ही सब कुछ मत मानों, यह मोह तो इस संसारमें रुलाने वाली विपत्ति है।

निचली वृत्तिका निषेध— यहां तीन पद बताए गए हैं—एक अप्रतिक्रमण, दूसरा उससे ऊँचा प्रतिक्रमण और तीसरा उससे भी ऊँचा उत्कृष्ट अप्रतिक्रमण। इसमें जब प्रतिक्रमणको ही विष बताया गया है तो नीचे दर्जेका जो अप्रतिक्रमण है, वह अमृत कैसे बन जाएगा? इसलिए हे मुमुक्षुजनों! तुम नीची-नीची निगाह रखकर गिरकर प्रमाद मत करो, किन्तु निष्प्रमाद होकर ऊपर-ऊपर और चढ़ो। प्रतिक्रमणको विष बतानेका प्रयोजन यह मत ग्रहण करना कि अरे वह तो विष है, उसके नजदीक क्या जाना? इसके लिए उपदेश नहीं दिया गया है, किन्तु इस प्रयोजनके लिए उपदेश दिया गया है कि जब यह द्रव्यप्रतिक्रमण भी विष बताया गया तो यह अप्रतिक्रमण तो महाविष समझिए। तब नीचे-नीचे मत गिरो, किन्तु ऊपर-ऊपर चढ़ो। उस निश्चयप्रतिक्रमणके निकट पहुंचो, जो शुद्ध भावों वाला है।

मोक्षमार्गमें प्रमादका कारण कषायका भार— अहा, निज ज्ञानस्वभाव का जिसे परिचय मिला है, वह प्रमादी भला कैसे हो सकता है? आलसी नहीं हो सकता अर्थात् अपनेको ज्ञाताद्रष्टा रखनेमें उद्यमी होगा वह नीचे नहीं गिर सकता है, क्योंकि जब कषायोंका भार लदा हो तब तो आलस्य आएगा। ज्यादा बोझ जब हो जाता है तो आलस्य आने लगता है। जैसे कोई दफ्तरका काम है, लिखनेका काम है, जब काम भारी हो जाता है तो आलस्य आता है कि नहीं? अजी देखेंगे, कर लेंगे फिर। जब गृहस्थी का बोझा होता है तो हैरानी अधिक हो जाती हैं, घरके लोग भी ढंगसे बोलने वाले नहीं रहते हैं, ऊँट-पटांग व्यवहार करने लगते हैं। तब घर-गृहस्थीको संभालनेमें आलस्य आ जाता है या नहीं? आ जाता है। क्या करें दिल गिर जाता है।

प्रमादसे प्रमादकी वृद्धि— किसी लड़केका पाठ कई दिनका छूट जाए और कुछ दिन सबक तैयार न रख सके तो बीचमें एक दो स्थल जब उसके छूट जाते हैं, तब उसे पढ़नेमें आलस्य लगता है। वह कहता है कि पिता जी, इस साल तो रहने दो, अगले साल फिर स्कूल अटेण्ड करेंगे और

थोड़ा पेटदर्दका बहाना, सिरदर्दका बहाना कर लेता है। दो ही तो ये बहाने हैं जिनका सही पता कोई नहीं लगा सकता है। अगर वह कहे कि बुखार है तो नब्ज देखकर जान जाएगा कि बुखार नहीं है, पर पेटदर्द और सिर-दर्दको कोई नहीं जान पाता है। इसलिए वह अगले वर्ष स्कूल अटेण्ड करने करनेको कहता है। इसी प्रकार जब धर्ममें प्रमाद होता है तो प्रमादका टाइम लम्बा हो जाता है। सो जब कोई बोझ हो जाता है तो आलस्य आने लगता है। घरमें कूड़ा-कचड़ा मामूलीसा पड़ा हो तो उसे झाड़नेमें कितना बढ़िया मन लगता है? कूड़ा-कचड़ा बहुत फैल जाए तो उसे साफ करनेमें बहुत आलस्य आता है। यही होता है कि अरे इसे पड़ा रहने दो, फिर देखेंगे। जब बोझा लद जाता है तो आलस्य आया करता है।

प्रमादपरिहारमें कल्याण-- भैया! संसारी जीवों पर कितना बोझ लदा है, इसलिए मोक्षमार्गमें आलस्य आ रहा है। शुद्ध निर्मल परिणाम रखनेको जी नहीं चाहता। हालांकि खोटे परिणाम करनेसे विपत्तियों पर विपत्तियां आ रही हैं। वे विपत्तियां तो इसे मंजूर हो जाती हैं, मगर निर्मलताके लिए उत्साह नहीं जगता, क्योंकि बहुत अधिक कषायोंका बोझा लदा हुआ है। इस कारण हे मुमुक्षुजनों! अपने ज्ञायकस्वरूप रससे निर्भर इस आत्मस्वभावमें निश्चित होकर अर्थात् अपने उपयोग द्वारा अपने ही इस स्वभावको जानकर, ज्ञानी बनकर, मुनि बनकर अर्थात् समझदार होकर क्यों न शीघ्र परमशुद्धताको प्राप्त करते हो और समस्त संकटोंसे छूटनेका यत्न करते हो?

कषायोंकी असारता— भैया! संसारमें सार रखा क्या है? कुछ शांत होकर, कुछ कषाय मंद करके विचार तो करो कि सार रखा किसमें है? मूर्ख आदमियोंमें बसनेसे कुछ तत्त्व नहीं मिलता। यह बात सही है या नहीं। मूर्ख और मूढ़ दोनोंका एक ही अर्थ है या नहीं? आप लोग बोलिए। मूढ़ आदमियोंमें रहनेसे कुछ तत्त्व नहीं मिलता है। मूढ़ और मोही दोनोंका एक ही अर्थ है ना, अब बोलो। मोही आदमियोंमें रहनेसे तत्त्व नहीं मिलता है। अब जरा आंखें पसार करके देखो कि सारे विश्वमें मोही आदमी मिलेंगे या निर्मोही? विरला ही कोई निर्मोही संत हो। सो तुम्हारी अटक हो तो काम-काज छोड़कर, घरबारका अनुराग छोड़कर निर्मोहीके पास अपने मनको लावो। निर्मोही तुम्हें वैसे ही न मिल जाएगा। जिनमें बस रहे हो, वे सब मोहपीड़ित हैं, वेदनाग्रस्त हैं। उनमें झुकनेसे, आकर्षणसे आत्माको तत्त्व क्या मिलेगा? सो कषायोंका बोझ हटा दो, हलके हो जावोगे।

भाररहितकी सुरक्षा— भैया! जो वजनदार पेड़ खड़े हुए हैं नदीके

किनारे वे भी उखड़कर बह जाते हैं और जो हल्के छोटे-छोटे अंकुर होते हैं, छोटी-छोटी घास होती हैं वह लहराती रहती है। वह जड़से उखड़ नहीं जाती। जो कषायोंसे लदे हुए जीव हैं वे इस संसारसमुद्रमें बहते रहते हैं, उनकी कहीं स्थिति नहीं रह पाती है। किन्तु जो कषायोंके बोझ से हल्के हैं, भाररहित हैं वे अपने आपमें अडिग रहते हैं। इस आध्यात्मिक अपूर्व मर्मकी बात सुनकर तुम नीचे-नीचे मत गिरो, ऊपर उठते चलो। जो पुरुष अशुद्ध परिणामोंके आश्रयभूत परपदार्थोंको त्यागकर अपने आत्मद्रव्यमें लीन होते हैं वे निरपराध हैं और बंधका नाश करनेसे अपने आपमें जो स्वरूपका प्रकाश उदित होता है उससे महान् बन जाता हैं, परिपूर्ण होता है। जो अपनेको केवल ज्ञानमात्र देखता है वह कर्मोंसे छूटता है। जो अपनेको रागीद्वेषी अनुभव करता है वह कर्मोंसे बंधता है।

भगवंतोंका निष्पक्ष उपदेश—जैसे कोई गुरु किसी शिष्यको ध्यान करनेकी बात सिखाये—बैठो भाई अच्छा आसन मारकर। देखो—कमर सीधी करके बैठो। गुरु सिखा रहा है ध्यान करनेकी विधि—अपनी आंखें बंद करलो—सबका ख्याल छोड़ो, हमारा भी ख्याल छोड़ो, और अपने आपमें निर्विकल्प होकर ज्ञानप्रकाश देखो। शिष्य यह कहे कि गुरु ज्ञान प्रकाश देखो। शिष्य यह कहें कि गुरु महाराज तुम तो, हमारे बड़े उपकारी हो, हम तुम्हारा ख्याल कैसे छोड़ दें? तो जो उपकारी गुरु हैं उसे ऐसा कहनेमें देर नहीं लगती, संकोच नहीं होता, उसका तो पहिलेसे ही निर्णय किया हुआ तरीका है कि अच्छा बैठो ध्यानमें सबको भूल जावो, हमें भी भूल जावो, अपने शरीरको भी भूल जावो। चित्तमें किसी को मत ध्यानमें लावो और देखो अपने अन्तरमें अपना प्रकाश। इससे भी बढ़कर प्रभुका उपदेश है। भगवान यों कहता है भक्से तुम इन्द्रियोंको संयत करके बिलकुल निष्पक्ष होकर अपने आपमें अपने आपको देखो, हमें भी भूल जावो। तुम अपने निजस्वरूपको निहारो, ऐसा उपदेश है ना।

भगवदाज्ञाकी पालना—अब बताओ भैया कोई भगवानकी मूर्तिके समक्ष खड़े होकर एक निगाहसे मुद्राको अपनी आंखोंमे भरकर आंखें बंद करके उसे भी भूलकर अपने आपको देखनेमें लग जाय तो उसने भगवान का हुक्म माना या भगवानका विरोध किया? भगवानका हुक्म माना। तो जो सर्व परद्रव्योंसे हटकर केवल अपने ज्ञानस्वभावी आत्मद्रव्यमें ही अपना उपयोग लगाते हैं वे शुद्ध होते हुए बंधनसे छूट जाते हैं। यह मोक्षाधिकार यहां सम्पूर्ण होने वाला है। इसके अंतिम उपसंहार रूपमें यहां सब विधियों द्वारा जब यह जीव अपने को संभाल लेता है तब इसके

बंधका छेद होता है। जहां रागका अभाव हुआ, बंधका विनाश हुआ तो यह अविनाशी मोक्षस्वरूपको प्राप्त करता है।

व्यर्थकी अटकें— भैया ! कितनी अटके हैं यहां संसारमें ? जिनमें व्यर्थ ही अटककर यह आत्मा अपने इष्ट पदको, उत्कृष्ट पदको प्राप्त नहीं कर पाता। रोकता कोई नहीं है किन्तु हम ही अपने विकल्प बनाकर उनमें अटकते हैं। कितनी अटकें हैं यहां, और सारी व्यर्थकी अटके हैं। वैभव प्रकट जुदा है, फिर भी कैसी उसकी अटक है। पता नहीं कल क्या होगा ? खुद भी रहेंगे या न रहेंगे। धन वैभव भी किसीके पास रहता है नहीं। किसीके पास किसी तरहसे मिटेगा, किसीके पास किसी तरह मिटेगा। विवेकी हुआ तो दान देकर मिटा देगा। मोही हुआ तो जोड़ जोड़कर धरेगा और लूटने वाले लूट ले जायेंगे या खुद मर जायें तो यों ही लुटा दिया। धन वैभव किसीके पास सदा रहा हो ऐसा कोई उदाहरण मिले तो बतलावो—रामका मिले, आदिनाथका मिले, कृष्णजीका मिले, किसी का मिले तो हमें ले चलकर देखें तो कि ये नवाब साहब हैं जो शुरूसे सदा रईस बने हैं, रहेंगे, लक्ष्मी भी रहेगी। एक भी कहीं कोई मिल जाय तो हमें दिखा दीजिए, अपने प्रेमियोंको दिखा दीजिए, कोई न मिलेगा।

अविश्वास्य व विनश्वरकी व्यर्थ प्रीति—भैया ! यह धन मिल गया है मुफ्तमें और जायेगा भी मुफ्तमें। मिला सो कुछ उसमें परिणामकी कढ़ाई नहीं जढ़ाया और जायेगा सो भी तुमसे न्यारा होकर ही जायेगा। तब कर्तव्य तो यह है कि धन सम्पत्तिविषयक ममता परिणाम न रखकर और उस स्थितिके ज्ञाता द्रष्टा रहकर जो गृहस्थीमें हैं सो वे भी काम करें और अपने अन्तरमें मुड़कर अपने अंतरात्माका भी हित करें। और इस जमाने में तो और भी धनिकताकी अस्थिरता है। आजका कल विश्वास नहीं। जिसके पास अभी धन नहीं है वह कहीं ६ महीनेमें ही कुछ धन जाय और जिसके पास धन है, कहो थोड़ा ही आलस्य रखने पर ६ महीने में ही सारा उसका धन विघट जाय। तो उस बाह्यके उपयोगमें क्यों समय गुजारें ? अपने ही हितकी प्रमुखता क्यों न रखें ?

वैभवकी प्रकृति—चार चोर थे, सो कहींसे २ लाखका धन चुरा कर ले आए। अब रात्रिको तीन बजे एक ठिकानेमें बैठ गए। उन्होंने सोचा कि धन तो पीछे बांट लेंगे। पहिले भूख लगी है सो कुछ बना खाकर भूख मिटाएँ। चोर कितना भी धन जोड़ लें तो भी खुश नहीं रहते हैं। मगर जो आदत हो गई उससे वे लाचार रहते हैं। जिन्दगी भर दुःखी ही रहते हैं और अपना दुष्कर्म नहीं छोड़ते हैं। चारों चोरोंने सोचा कि दो जनें शहर जावो और वहांसे बढ़िया मिठाई वगैरह खूब ले आवो, खूब खावें

तब धनका हिस्सा कर लेंगे। दो चोरोंको भेजा। अभी तक तो तनिक अच्छे परिणाम रहे—बादमें बाजार गये हुए वे दोनों सोचते हैं क्यों जी, ऐसा करें ना कि मिठाईमें विष मिला लें और उन दोनोंको खिला देंगे। वे मर जायेंगे तो अपन दोनोंको एक-एक लाख मिलेगा। लखपति बन जायेंगे। सो उन दोनों ने तो मिठाईमें विष मिलाया, और यहां उन दोनों चोरोंने सोचा कि जैसे ही वे दोनों आयें अपन दूरसे ही गोलीसे उड़ा दें, वे मर जायेंगे तो एक-एक लाख अपनेको मिलेंगे। सो वे तो विष मिलाकर लाए और ये बन्दूख ताने बैठे। जैसे ही वे दोनों आए सूट कर दिया, गुजर गए। कहो अच्छा रहा, लाख लाख अपनको मिलेंगे। जो भोजन मिष्टान्न वे दोनों लाये थे सो उठा लिया और प्रेमसे खा लें खूब छककर फिर आनन्दसे हिस्सा बांट लेंगे यह सोचा, सो खूब छककर मिठाई खा ली, सो वे दोनों बेहोश हो गए, मर गए। सारा धन जहांका तहां पड़ा रहा।

ज्ञानका शरण—भैया! धन वैभव हाथ भी रहता तो भी शान्ति तो नहीं मिलती। शांति ज्ञानबल बिना तीन काल भी सम्भव नहीं है। इस कारण हमारा वास्तविक मित्र है तो सम्यग्ज्ञान मित्र है। अन्यकी आशा तजो। दूसरेको मित्र मानो तो जो सम्यग्ज्ञानमें सहायक हो इस नाते से मानो और तरहसे न मानो। यों तो अनन्त जीव हैं जगत्में मलिन हैं, कर्मबंधन से दूषित हैं। किस किससे नेह लगावोगे? क्यों व्यर्थ ही एक दो को ही अपना सर्वस्व मानकर अपना अमूल्य मन जो श्रुतज्ञानकी सेवा करके अपना कल्याण कर सकता है ऐसे इस अमूल्य मनको मोही पुरुषोंमें सौंप रहे हो, सो कुछ तो विचार करो। उन सबके ज्ञाता दृष्टा रहो, अपने हितमें प्रमाद मत करो।

ज्ञानका अतुल विकास और मग्नता—देखो इस सम्यग्ज्ञानके बलसे जिनका बंध मिट गया है उनके ऐसा अतुल प्रकाश उत्पन्न हुआ जो प्रकाश नित्य है, स्वभावतः अत्यन्त प्रमुदित है, शुद्ध है, एक ज्ञान करनेसे ज्ञान ही रससे भरा हुआ जो आनंदका निधान है उसके कारण गम्भीर है, धीर है, शांत है, निराकुल है। ऐसा स्वरूप होता है मुक्त जीवोंका। जिनके द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीर तीनों प्रकारके बंधन हट गये हैं ऐसे पुरुषों का ऐसा निर्मल स्वरूप प्रकट हुआ है, अब वह स्वरूप विभाव कभी भी विचलित नहीं हो सकता। ऐसा अचल होकर उन सिद्ध प्रभुमें वह ही प्रकट हुआ है। वह ज्योति वह ज्ञान बढ़ बढ़कर ज्वलित होकर इस अपने आपकी महिमामें समा गया है।

सर्वोच्च वेश—इस तरह इस आत्माकी रंगभूमिमें बहुत समयसे नाटक चल रहा था, कभी यह आश्रवके भेषमें, पुण्य पापके भेषमें, बंधके

भेषमें अपना नृत्य दिखा रहा था, अपनेको परिणमा रहा था। तो अब जब ज्ञान उदित हुआ तो संवर और निर्जराके रूपमें यह ज्ञान पात्र प्रकट हुआ और इसके परिणाममें अब यह मोक्षके भेषमें आ गया। अब देखो अशुद्ध भेषको बनाकर यह जीव शुद्ध भेषमें आ गया, मुक्त हो गया, फिर भी ज्ञानी जीवकी दृष्टि उस मोक्षके स्वरूपको भी एक भेषरूपमें देखती है। है यह शुद्ध भेष है, यह अविनाशी भेष, पर उस भेषसे परे और अंतः स्थित इस सर्व विशुद्ध ज्ञानस्वरूपको देखनेकी दृष्टि वाला है ना ज्ञानी, सो अब वह इस मोक्ष भेषको भी यों देखता है कि लो यह मुक्तिका भेष है।

निर्वेश आत्मतत्त्व—इस ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्माका और जरा सी देरमें ही मुक्तिके प्रति अन्तरमें और प्रवेश करके जब उनके सनातन ज्ञानस्वरूपको निहारा तो लो अब मोक्ष भेष भी निकल गया, पर इस मोक्ष भेषके निकलनेके परिणाममें संसारकी ओर न आएँ, किन्तु अनादि अनन्त अहेतुक सनातन ज्ञायकस्वरूपकी ओर आएँ। सो अब यह मोक्ष निष्क्रांत होता है और इसके बाद फिर सर्व विशुद्ध ज्ञानका प्रवेश होता है। यह सर्व विशुद्धज्ञान किसी भेष रूप नहीं है। मोक्ष तक तो भेष है पर इन सातों तत्त्वों के अन्तरमें व्यापक शुद्ध स्वरूपका कोई भेष नहीं है। सो अत्यन्त उपादेयभूत मोक्षतत्त्व तक ले जाकर फिर उसके साधकतम उपायमें अर्थात् सर्वविशुद्ध चैतन्यस्वरूपमें अब इस ज्ञानीके उपयोगका पुनः प्रवेश होता है।

❀ समयसार प्रवचन बारहवां भाग समाप्त ❀

जैन साहित्य प्रेस, सदर मेरठ।